आस्तिकवाद

तथ्य एवं सत्य

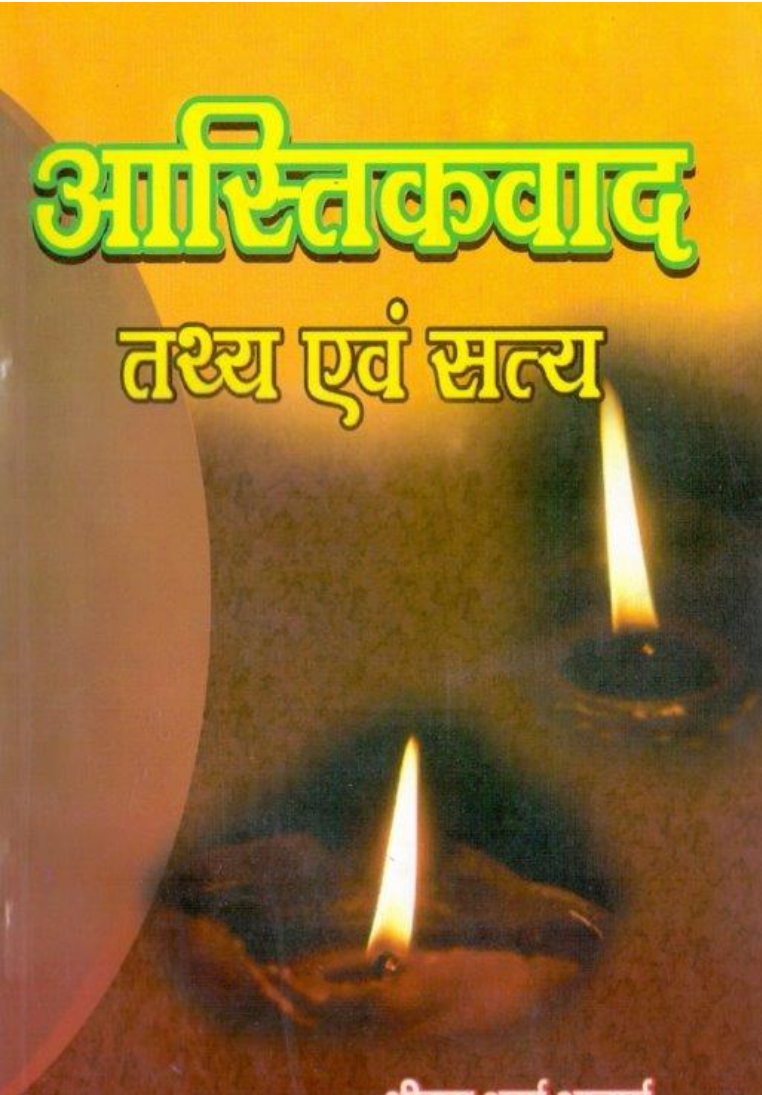

आस्तिकवाद : तथ्य एवं सत्य

❖

लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
डॉ० प्रणव पंड्या

❖

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो० ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं० २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् २०११ मूल्य : १६.०० रुपये

विषय सूची

(१) तथ्यान्वेषियों की दृष्टि में परमसत्ता का स्वरूप ३

(२) आस्तिक तत्त्वदर्शन के ठोस आधार १९

(३) कोई नियामक सत्ता है, इसके कई प्रमाण हैं २९

(४) अध्यात्म दर्शन की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि ५०

(५) तथ्यों एवं तर्कों से प्रमाणित परब्रह्म की शक्ति ६६

(६) अनुशासन एवं नीतिमत्ता पर आधारित ईश्वरीय विधान ७६

तथ्यान्वेषियों की दृष्टि में परमसत्ता का स्वरूप

परिवर्तनशील सृष्टि में हर क्षण जीवन-मृत्यु का संघात चल रहा है। सृजन में विनाश का क्रम अनिवार्य रूप से जुड़ा है। नए पौधे उगते हैं। जीव पैदा होते हैं, किंतु देखते-देखते काल के गर्भ में समा जाते हैं। जीवन-मरण के इस चक्र को देखकर यह प्रश्न सदियों से मानव-मन को आंदोलित करता चला आ रहा है कि इन सबके पीछे सत्य क्या है?

जीवन क्या है? जड़ परमाणुओं का सम्मिश्रण मात्र या अन्य कुछ? विलास, वैभव एवं शक्ति के क्षणिक सुखों के प्रभाव के कारण इस प्रश्न को भले ही भुला दिया जाए, किंतु उनका आवेश कम होते ही वह पुनः उठ खड़ा होता है। आदिकाल से ही मनुष्यों को सृष्टि प्रवाह के सत्य को जानने की आकांक्षा रही है तथा जब तक इसका समाधान नहीं मिल जाता, बनी ही रहेगी। विज्ञान, मनोविज्ञान एवं दर्शन सभी अपने-अपने ढंग से इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं।

प्रचलित मान्यताएँ तीन प्रकार की हैं?

(१) शून्यवादियों के अनुसार सब कुछ शून्य है।

(२) विज्ञान के अनुसार जीवन जड़ तत्त्वों का सम्मिश्रण मात्र है जो तत्त्वों के संगठन-विघटन के साथ उत्पन्न तथा विनष्ट होता है।

(३) दार्शनिकों के अनुसार जीवन का आधार भौतिक तत्त्व नहीं है। इससे परे उसकी सत्ता है। वह अविनाशी है।

विश्व के सभी वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, धर्मग्रंथों की मान्यताएँ इन तीनों के ही इर्द-गिर्द घूमती तथा अपने-अपने स्तर पर प्रतिपादन करती हैं।

शून्यवादियों का मत है कि संसार परिवर्तनशील है। हर क्षण प्रत्येक कण में परिवर्तन हो रहा है। कोई वस्तु स्थायी नहीं है। इस कारण किसी चीज का अस्तित्व नहीं है। सब शून्य है। भूत-भविष्य अस्तित्व रहित हैं, वर्तमान ही सत्य है। शून्यवाद की यह मान्यता विचारणीय है।

सापेक्षवाद के सिद्धांत के अनुसार भूत, वर्तमान एवं भविष्य का अस्तित्व एकदूसरे के सापेक्ष है। वर्तमान का स्वतंत्र अस्तित्व संभव नहीं। भूत एवं भविष्य को स्वीकार किए बिना वर्तमान की कल्पना नहीं की जा सकती। वर्तमान को स्वीकार करने का अर्थ है परोक्ष रूप में भूत एवं भविष्य को स्वीकार करना, इनकी मान्यता उसी प्रकार है जैसे माता-पिता के अस्तित्व को अस्वीकार करके संतान के अस्तित्व को स्वीकार करना। शून्यवाद के मत का एक पक्ष यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, किसी में स्थायित्व नहीं है, इस कारण सब भ्रम है, शून्य है? परिवर्तन के कारण प्रत्येक वस्तु का स्वरूप हर क्षण बदल रहा है। यह सत्य है। किंतु मात्र परिवर्तन होते रहने के कारण से ही प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व से इनकार कर देना विवेकसंगत नहीं है। यह मान्यता उसी प्रकार है जैसे यह कहा जाए कि एक बच्चे के शरीर में नित्य नए परिवर्तन हो रहे हैं। उसका स्वरूप एकसा नहीं रहता। इसलिए बच्चे का अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार का प्रतिपादन यदि कोई व्यक्ति करता है तो निश्चित ही उसको बुद्धिमान नहीं कहा जाएगा।

संसार का प्रतिभासित होने वाला स्वरूप मिथ्या है, इस सीमा तक तो बात ठीक भी है, किंतु उसके पीछे चल रहे प्रवाह को ही इनकार कर देना विवेकसंगत नहीं है। प्रवाह ही जीवन है जो अनंत

काल से प्रवाहित होता चला आ रहा है तथा अनंत काल तक प्रवाहित होता रहेगा। पिंड से लेकर ब्रह्मांड तथा प्राणिजगत में उस चेतन-प्रवाह के अस्तित्व को इनकार कर दिया जाए तो भयंकर भूल होगी। शून्यता से गति असंभव है। गति तो किसी चेतन कारण सत्ता से ही संभव है। जड़-वस्तुओं की हलचलों का जो कारण है, वही चेतन प्राणियों के जीवन का आधार है। उसी को आध्यात्मिक भाषा में आत्मा कहा गया है। वह सबके परिवर्तन का, हलचलों का कारण है। उसकी प्रकाश किरणें ही वस्तुओं पर प्रतिविंबित होकर उनके स्वरूप का आभास कराती हैं। सब परिवर्तनों का कारण होते हुए भी वह सदा अपरिवर्तित रहती है। शून्यवाद की मान्यता को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो सृष्टि के कारणों की संतोषजनक व्याख्या संभव नहीं है।

वैज्ञानिकों की मान्यता है कि सृष्टि की हलचलों का कारण परमाणुओं का परस्पर संघात है। समस्त ब्रह्मांड में एक स्वसंचालित प्रक्रिया चल रही है। उनके अनुसार चेतना की उत्पत्ति भी जड़-परमाणुओं के परस्पर संगठन के कारण हुई है। आत्मा, मन जड़ शरीर के ही परिणाम हैं। शरीर के विनिष्ट होते ही आत्मा का भी अस्तित्व नहीं रहता।

यदि जड़ परमाणुओं के संगठन एवं हलचल मात्र से शरीर का गठन हो जाता है तो वह कौन सी शक्ति है जो परमाणुओं में हलचल उत्पन्न करती तथा उनको परस्पर संगठित करके सुंदर शरीर में रूपातंरित करती है। वह कौन सी शक्ति है जो प्रकृति के कुछ परमाणुओं को लेकर एक प्रकार के शरीर तथा दूसरे से भिन्न प्रकार के शरीर बना देती है। विज्ञान के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। यह कहना कि आत्मा की शक्ति जीवन का कारण भौतिक तत्त्वों के परमाणुओं के विभिन्न संघातों का प्रतिफल है, अविवेकपूर्ण है। यदि यह सत्य है तो वैज्ञानिक उनको जिनसे शरीर बना है को लेकर जीव का निर्माण क्यों नहीं कर डालते?

अब तक की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ स्वयं साक्षी हैं कि प्रयोगशालाएँ एक क्षुद्र जीव का निर्माण नहीं कर सकीं। स्पष्ट है कि आत्मा जड़-परमाणुओं के परस्पर संघात का प्रतिफल नहीं वरन एक स्वतंत्र सत्ता है। जो शक्ति प्रकृति के तत्त्वों को लेकर सुंदर शरीर के रूप में रूपातंरित करती तथा जो शरीर के अंदर चेतना के रूप में व्यक्त होती है, दोनों एक हैं। पिंड के अंदर आत्मा तथा ब्रह्मांड में वह परमात्मा के रूप में क्रियाशील है। शारीरिक हलचलों का कारण होते हुए भी वह शरीर से परे है। शरीर के गठन, विघटन से उसका अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। वह सदा एक रूप में बनी रहती है।

चेतना के अस्तित्व को इनकार करने तथा जड़ वस्तुओं के साथ उसकी नश्वरता की मान्यता प्रतिपादित करने के स्थान पर यदि सत्य को जानने का प्रयास करें तो स्पष्ट होगा कि वस्तुतः जड़ का ही अपना अस्तित्व नहीं है। जिसे हम जड़ जगत कहते हैं, वस्तुतः वह शक्ति की एक अवस्था विशेष ही है।

उस अविनाशी तत्त्व को जो सदा एक रूप बना रहता है, दार्शनिकों ने आत्मा कहा है। जीवन का वही आधार है। जीवन-मृत्यु से वह रहित है। शरीर के अवयवों के नष्ट होने पर भी वह बना रहता है। उसका निश्चित रूप नहीं। देश-काल की सीमाओं से वह परे है। शरीर उसका देश नहीं, आयु उसका काल नहीं। काल का आरंभ तो मन से होता है, देश भी मन के अंतर्गत है। मन से—अतीत देश काल के निमित्त से—वह परे है। वह अनादिकाल से विद्यमान है तथा अनंत काल तक बनी रहेगी। वह स्वयं अनंत है। परिवर्तन असीम वस्तुओं में होता है। आत्मा में परिवर्तन असंभव है। यह मान्यता ही आस्तिकता है। जीवन की व्यापकता एवं आत्मा की अमरता ही सत्य है।

इतना समझ लेने और स्वीकारने के बाद जीवनसत्ता की इस मूलभूत इकाई का अंतिम रूप क्या है, इसकी परिणति किसमें होती

है एवं इसे सतत ऊर्जा एवं गति प्रदान करने वाला तंत्र कौन सा है? यह जानने का प्रयास करें। यदि ऐसी सत्ता है तो क्या उसे ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से जाना जा सकता है? मनीषी, वैज्ञानिक आदिकाल से इसी अनुसंधान में निरत रहे हैं जिसे चरम सत्य की खोज कहा जाता रहा है। हर वैज्ञानिक मूलत: दार्शनिक रहा है क्योंकि उसने दृश्यमान सत्ता की गहराई में जाकर 'क्या' व 'क्योंकि' प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ना चाहा है।

आज के वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि विश्व की मूल सत्ता अज्ञेय है और यह दुनिया ऐसी अज्ञेय, अव्याख्येय, अविश्लेष्य, अपरीक्षय तरंगों का संघात है, जिनके बारे में हमारी जानकारी सीमित है। वैज्ञानिकों के अनुसार यथार्थ जगत क्या है? वह रंगरहित, ध्वनिरहित, अव्याख्येय 'कास्मास' है, और उनके ही प्रक्षेपण को यथार्थ जगत नाम दे देता है।

'गाइड टू फिलासफी' के लेखक दार्शनिक जोड के अनुसार, "मैटर दिक् तथा काल में, स्पेस एण्ड टाइम में विस्तृत एक रस्सी की ऐंठन की तरह है। वह एक इलेक्ट्रानी कुकुरमुत्ता है। अनंत संभावनाओं की एक तरंगावली है, जो कुछ नहीं जैसी है। पदार्थ वस्तुत: दिक्काल में घट रही घटनाओं की एक व्यवस्था है, जिसकी विशेषताएँ मात्र गणितीय प्रतीकों में संकेतित की जा सकती हैं।"

इसीलिए तो महान गणितज्ञ एवं खगोलवेत्ता सर जेम्स जीन्स ने कहा है—"यह जगत महान यंत्र नहीं महान विचार ही है, ऐसा अब लगता है। सापेक्षतावाद, निरंतरता, न्यूनतम अवकाश, वक्र आकाश यानी कर्ब्ड स्पेस संभावना-तरंगें, अनिश्चितता आदि वैज्ञानिक अवधारणाएँ वस्तुत: मन की सृष्टि अधिक हैं। मन और पदार्थ का पुराना द्वंद्व लुप्त हो चला है।"

भौतिकी के समस्त प्रेक्षण एवं अन्वेषण दिक्काल की, टाइम एण्ड स्पेस की ही सीमा रेखा के भीतर संभव हैं और 'ये टाइम और स्पेस' क्या है? भौतिकीविद् वाट्सन के शब्दों, "वेलोसिटी, पोजीशन,

टेंपरेचर एटसेट्रा आरनॉट थिंग्ज' अर्थात 'काल दिक्' और दूसरे परिमाण जैसे संख्या, वेग, स्थिति, तापमान आदि वस्तुएँ नहीं हैं।"

कार्वेथ रीड ने अपनी किताब 'लॉजिक डिडक्टिव एण्ड इंडक्टिव' में कहा है—"वी हेव कान्सेप्ट्स रिप्रिजेन्टिंग नथिंग, व्हिच हेव परहेप्स बीन जैनरेटेड बाय द मिअर फोर्स ऑफ ग्रामेटिकल निगेशन।"

अर्थात हमारे पास ऐसी अवधारणाएँ हैं जो वस्तुत: किसी भी वस्तु सत्ता की प्रतीक प्रतिनिधि नहीं हैं, जो संभवत: गणितीय नियमों की शक्ति से निष्पन्न हुई हैं।

डॉ० डब्लू कार ने कहा है—"टाइम और स्पेश" न तो कंटेनर हैं, न ही 'कंटेंट', वे तो मात्र 'वेरिएंट' हैं।" इसी बात को मिन्कोवस्की ने अधिक स्पष्टता से कहा है—"दिक् तथा काल की स्वयं में कोई स्वतंत्रता सत्ता नहीं है। वे मात्र छायाएँ हैं।"

आज 'सापेक्षता' का सिद्धांत विज्ञान में सर्वाधिक प्रतिष्ठित है। उसके अनुसार सब परिदृश्यमान एवं अनुभूयमान जागतिक सत्य मात्र आपेक्षिक सत्य है। आकार, गति आदि के अवस्था भेद से वाह्य वस्तु का ज्ञान प्रत्येक दर्शक के निकट भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है और हो सकता है। तत्त्व तो सबके लिए सत्य होना चाहिए। इसका निरूपण कैसे हो?

स्पष्ट है कि इस स्थिति में पहुँचकर जब मूर्द्धन्य विज्ञान मनीषियों की ही वाणी लड़खड़ाने लगती है और वे गोल-गोल पहेलियाँ जैसी बुझाने लगते हैं, तब साधारण अध्येता तो इन सबका कोई अर्थ ही नहीं समझा सकता।

भौतिक विज्ञान की सत्यशोधन की क्षमता सीमित है। एक स्तर तक सूक्ष्म-सूक्ष्मतर प्रेरणा करते चले जाने के बाद वह यह बताने लगता है कि इससे आगे की सूक्ष्मता की पकड़ वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा संभव नहीं। समस्त विज्ञान-अन्वेषण वस्तुत: ज्योति-साधना कहे जा सकते हैं। विचारों की ज्योति की सीमा आपेक्षिकता सिद्धांत एवं अनुभूति तक है। विचार भी उपकरण ही हैं। द्रव्य-उपकरणों की

ज्योति प्रकाशन-सीमा सूक्ष्मतम तरंगों या रश्मियों तक है। दोनों ही प्रकार की सत्यानुभूतियाँ मानवी-चेतना में सन्निहित ज्योति द्वारा अनुभव-गम्य हैं, जिन्हें (१) गणितीय ज्योति या विज्ञान ज्योति एवं (२) विचार-ज्योति कहा जा सकता है। किंतु परम सत्य तो ज्योतियों की भी ज्योति है। उसे किस ज्योति द्वारा जाना जाए? समस्त ज्ञानविज्ञाता कौन होते हैं? किंतु स्वयं विज्ञात को किसके द्वारा जाना जाए? अणु और वृहत दोनों ही दिशाओं में मानवीय ज्ञान सीमित है, जबकि परम सत्य की दोनों में से कोई और सीमा नहीं। श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।२०) के अनुसार वह 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' है—

"न तत्र सूर्या भाति, न चंद्रतारकं नेमा नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽममग्निः।"

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१४

अर्थात—"वहाँ न सूर्य-प्रकाश की पहुँच है, न चंद्र और तारों की और न विद्युत की। तब अग्नि या मानवीय सामर्थ्य की उत्पादित ज्योति-रश्मि उस तक कैसे पहुँचेगी?"

वृहदारण्यकोपनिषद में जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं—"हे याज्ञवल्क्य, आदित्य, चंद्रमा, अग्नि और वाक् के भी परे मनुष्य किन ज्योति से ज्योतित रहता है।"

याज्ञवल्क्य ने कहा है—

"आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते, कर्मकुरुतो विपल्येतीति।"

—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।६

अर्थात—आत्मा ही वह ज्योति है, उसी के द्वारा व्यक्ति स्थिति होता, गतिशील रहता, क्रियाशील रहता एवं वापस लौट जाता है।

यह आत्मा कौन है?

"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समान सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति, ध्यायतीव, स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमति क्राति मृत्योरूपाणि।"

—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।७

अर्थात यह जो प्राणों में बुद्धि वृत्तियों के भीतर रहने वाला विज्ञानमय ज्योति स्वरूप पुरुष है। वह समान रूप से लोक-परलोक में संचार में समर्थ है। वही मानो चिंतन एवं चेष्टा करता है। वह लोक का अतिक्रमण करता है और मृत्यु के रूपों का भी वह अतिक्रमण करता है।

मुंडकोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि वह आत्मा ज्योतियों की भी ज्योति है—

"तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।"

—मुण्डकोपनिषद् २।२।९

अर्थात वह शुभ्र ज्योतियों की भी ज्योति ही आत्मवेत्ता द्वारा जानने योग्य है।

वह ज्योति ही शेष समस्त बोध की, प्रकाश की, विज्ञाता है, उसे किस विज्ञान से जानें—

"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"

—बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१४

अर्थात—भला उस विज्ञाता को किसके द्वारा जाना जाए?

भौतिकी की साधनाभूत ज्योति उन ज्योतियों की ज्योति चेतना को जानने में असमर्थ है। कोई भी अन्य ज्योति उसका दर्शन नहीं करा सकती। तपः शुद्ध चेतना में वह ज्योति स्वतः ही प्रकट होती है। यों, वह विद्यमान तो सदैव है; किंतु जब तक बुद्धितत्त्व की क्रियाओं को ही आत्मानुभूति समझा जाता है, तब तक वह अप्रकट ही रहता है। बुद्धितत्त्व को उस मूल चेतना से ही जोड़ देने पर, उसके समक्ष समर्पण कर देने पर, उससे पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने पर ही वह चेतना बुद्धि को अपने आलोक से प्रकाशित कर देती है, यह स्थिति सहसा नहीं आती। उस हेतु निरंतर साधना अनुशासनों का अवलंबन लेना होता है। जब तक ऐसी परिपक्वता विकसित नहीं हो पाती, विज्ञान की विभिन्न विधाओं के माध्यम से अपनी मान्यताओं को तथ्य एवं तर्क का पोषण देते रहना भी

बुद्धिमानी है। क्योंकि इससे पूर्वाग्रहों से मुक्ति मिलती है एवं चिंतन विकसित होता है।

मान्यताओं में व्यावहारिकता का समावेश हो

वैज्ञानिक विषयों और मानविकी (ह्यूमेनिटीज) विद्या के विषयों, दोनों के अंतर शिक्षणक्रम में एक हिस्सा सैद्धांतिक और मान्यताओं संबंधी रहता है, दूसरा प्रायोगिक। सिद्धांतों और प्रयोगों के व्यवहार सिद्ध रूप को व्यावहारिक या 'एप्लायड' कहा जाता है। 'एप्लायड फिजिक्स एप्लायड इकॉनामिक्स' आदि के नाम से इनका शिक्षण होता है। 'एप्लायड' रूप वह होता है, जो तथ्यों, प्रयोगों और व्यवहार की कसौटी पर खरा उतरे। दूसरा मान्यताओं वाला क्षेत्र इससे भिन्न होता है। वह मनुष्य के अनुभवों भर से निस्सृत नहीं होता। अपितु उसमें उसकी स्वयं की कल्पनाएँ, रुचियाँ, दिमागी उड़ानें, निजी आस्थाएँ घुली-मिली होती हैं। इस प्रकार वैज्ञानिकी प्रयोग एक बात है, वैज्ञानिक परिकल्पनाएँ और मान्यताएँ भिन्न बात है। मान्यताएँ, बदल जाने पर भी प्रयोगों की प्रक्रिया यदि शुद्ध हो तो वही परिणाम प्राप्त होते रहते हैं। परमाणुओं का स्वर अब भी वही है, पारमाणविक संयोग-वियोग की प्रक्रियाएँ और परिणाम अब भी वही हैं; किंतु अब परमाणुओं को पदार्थ की प्राथमिक इकाई मानने की मान्यता समाप्त हो चुकी है।

पिछली शताब्दी के अंत में भौतिकी में यह मान्यता थी कि पदार्थ अविनाशी है। इस पदार्थ का सबसे छोटा कण परमाणु है। परमाणु ही पदार्थ के मूल कण हैं। पदार्थ का उससे आगे विभाजन संभव नहीं है। यों, उससे भी पहले अणु को ही एटम कहा गया था। लूक्रेंटस ने यह दर्शन प्रतिपादित किया था कि सभी पदार्थ अविनाशी और अपरिवर्तनीय अणुओं से बने हैं। बाद में पता चला कि अणु टूट सकते हैं। कई पदार्थों के अणु तो सरलता से टूट सकते हैं। जैसे लोहे पर जंग लगने से उसके अणु टूटकर नया रूप धारण कर लेते

हैं। किसी धातु पर अम्ल डालने से या उसे जलाने, गरम करने अथवा प्रकाश के आपतन से भी अणुओं को तोड़ा जा सकता है। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन पराक्साइड की बोतल यदि किसी प्रकाशमय स्थान पर रखी जाए तो उस तरल पदार्थ के अंदर से प्रकाश गुजरने भर से उसका हर एक अणु टूटकर एक जल अणु और एक ऑक्सीजन में बदल जाएगा। उस बोतल को प्रकाश में कुछ देर रखे रहने देने के बाद यदि उसकी कार्क हटाई जाए, तो तत्काल एक आवाज होगी, यह उसमें बन गई ऑक्सीजन की आवाज होगी। इसके बाद हाइड्रोजन पराक्साइड के स्थान पर उस बोतल में मिलेगा सिर्फ पानी। अणुओं की टूटन की यह जानकारी मिलने पर परमाणुओं को 'एटम' कहा जाने लगा। परमाणु का अर्थ था—वे छोटे कण जो अणु के टूटने पर प्राप्त होते थे।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में लार्ड रदरफोर्ड इस कथित अखंडनीय परमाणु को भी तोड़ने में सफल हो गए। तब पता चला कि परमाणु ऋण आवेशित 'इलेक्ट्रॉन' कणों और धन आविष्ट 'प्रोटान' कणों से मिलकर बना है। इस प्रकार परमाणु मूल कण नहीं रहे। अब हर पदार्थ को विद्युत-आवेशित कणों का समूह मात्र माना जाने लगा। देखा गया कि परमाणु से विकरण निकलते हैं। अब परमाणु मूल रूप में विकरणशील विद्युत अणु माने जाने लगे। परंतु हाइड्रोजन के दो और ऑक्सीजन के एक अणुओं के संयोग से पानी बनने का जो प्रयोग उन्नीसवीं सदी में सही था, वह अब भी सही है। ठोस, द्रव और गैसीय पदार्थों के अणु संयोगों का परिणाम अब भी वह होता है जो उस समय होता था, जब अणु को अविभाज्य माना जाता था। इसी प्रकार परमाणु के संबंध की नवीनतम जानकारियों के कारण परमाणु बम के निर्माण की विधि गलत नहीं हुई है। सिर्फ परमाणु के संबंध में मान्यता सुधरी है।

यही बात न्यूटन के गति और गुरुत्वाकर्षण संबंधी सिद्धांत के बारे में है। गति और गुरुत्वाकर्षण के जो सिद्धांत न्यूटन ने प्रतिपादित

किए थे, वे आइंस्टाइन के सापेक्षता सिद्धांत में अधूरे सिद्ध हो गए। न्यूटन ने माना था कि हर वस्तु या पदार्थ में एक नियत राशि संबंधित रहती है, जो उसका द्रव्यमान है। उस समय माना जाता था कि द्रव्यमान स्थिर और अपरिवर्तनीय है। यदि किसी वस्तु का द्रव्यमान १ किलोग्राम है, तो वह सदा उतना ही रहेगा। हाँ उसका भार पृथ्वी तल पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने पर तथा ऊपर या नीचे जाने पर बदल जाता है। किंतु जे० जे० टॉमसन ने सिद्ध किया कि द्रव्यमान भी बदलता है। विद्युत आवेशित कण वाला पदार्थ जितने अधिक वेग से चलेगा उतना ही उसका द्रव्यमान अधिक हो जाएगा। न्यूटन के समय पदार्थ और ऊर्जा भिन्न-भिन्न समझे जाते थे। आइंस्टाइन ने स्पष्ट किया कि गति बदलने पर पदार्थ का जो द्रव्यमान बदलता है, वह ऊर्जा के रूप में सुरक्षित द्रव्यमान का परिणाम होता है। अर्थात यदि कोई जहाज २५ मील के वेग से चल रहा है, तो उसका द्रव्यमान उस समय से तनिक सा अधिक होगा, जब वह जहाज स्थिर था। यह बढ़ा हुआ द्रव्यमान उस जहाज की गति से पैदा ऊर्जा का द्रव्यमान है। यह सब कहने का तात्पर्य सिर्फ यही कि गति द्रव्यमान आदि के बारे में न्यूटन के द्वारा स्थापित धारणाएँ आइंस्टाइन के सापेक्षतावाद के प्रतिपादन से बदल गईं, परंतु इस सैद्धांतिक प्रतिपादन के बदलने से जहाज की गति, वायुयानों की उड़ान आदि में कोई अंतर नहीं आया। उनमें कुछ सुधार अवश्य हुए, पर पूर्व स्थापित नियम और समीकरण पूरी तरह गलत नहीं हुए। राइट बंधुओं को सापेक्षवाद ज्ञात नहीं था, तो भी उन्होंने वायुयान उड़ाने का सूत्र गढ़ डाला था और व्यावहारिक प्रयोग में सफल रहे थे।

ढाई हजार साल पहले यूनानी दार्शनिक थेल्स ने घर्षण द्वारा विद्युत आवेश पैदा होते देखकर बिजली के बारे में यह धारणा गढ़ी कि यह रगड़ से पैदा होने वाला आवेश है। बाद में विद्युत को धन और ऋण आवेश के बीच दौड़ने वाली धारा के रूप में जाना गया। बिजली

के बल्व, पंखे, बैटरी आदि की खोज इतने ही सिद्धांत से हो गई। जबकि अब पता यह लगा है कि विद्युत धारा के किसी भी संवाहक में वस्तुतः झुंड के झुंड इलेक्ट्रॉन समूह ऋण सिरे से धन सिरे तक बहते रहते हैं। यह मान्यता-भेद सामने आने पर भी बिजली के प्रकाश की व्यवस्था में कोई फेर-बदल नहीं करना पड़ा।

अविज्ञात प्रकृति का जितना अंश समझ में आ जाता है, उसे अपनी कल्पना के अनुसार नाम दे दिया जाता है। उस समझ में आ गए अंश के भी सभी गुण ज्ञात नहीं होते। पहले वाले कारण को यों समझा जा सकता है कि रसायनशास्त्रियों को जब इतनी बात समझ में आ गई कि विभिन्न तत्त्वों का संयोग निश्चित मात्रा मूलक अनुपातों में होता है और तब नए-नए यौगिक बनते हैं, रासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं, तब उन्होंने परमाणुओं की सत्ता मान ली। यानी छोटी-से-छोटी पदार्थ मात्रा को परमाणु नाम दिया ताकि उनका आनुपातिक सम्मिश्रण सरल हो, उन्हें मापा जा सके। यह परमाणु नाम कल्पित था। आगे एक-एक परमाणु के भीतर नाच रहे प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन दीखे, उनसे उत्सर्जित होने वाले विकरण का पता चला तो परमाणु की जगह विद्युत अणु की कल्पना की गई। इस प्रकार वस्तुओं का नाम और स्वरूप जैसा समझ में आता गया कल्पना के सम्मिश्रण से उसके बारे में मान्यता बनाई जाती रही।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन प्रकल्पित पदार्थों में भी भौतिकशास्त्री मात्र गणितात्मक गुणों का आरोप करते हैं। इसी प्रकार रसायनशास्त्री कुछ रासायनिक गुणों का आरोप करते हैं। इस प्रकार विज्ञान यथार्थ के स्वरूप का संपूर्ण विवरण नहीं दे पाता क्योंकि आइंस्टाइन के शब्दों में "विज्ञान में जिन्हें 'आधारभूत सैद्धांतिक नियम' (बेसिक थ्योरोटिकल लॉज) कहा जाता है। वे वस्तुतः वैज्ञानकि कल्पना की स्वच्छंद सृष्टियाँ होते हैं।"

भौतिकविज्ञानी ने पदार्थों के परमाणु या विद्युत अणु का माप देखा और समझा। वे किस मात्रा में संयोग-वियोग से क्या बनते हैं,

यह परखा, परंतु इससे भी परे की विशेषताएँ वह नहीं जान सके। अमुक वस्तु के परमाणुओं या विद्युत अणुओं की ये-ये विशेषताएँ हैं, इतना ही वह बता सकता है। इससे भिन्न और कोई विशेषता नहीं है, यह वह कभी भी दावा नहीं करता। अमुक वस्तु में ये— रासायनिक गुण हैं, इतना एक रसायनशास्त्री बता सकता है। उनके अतिरिक्त और किसी प्रकार के गुण नहीं है, यह वह नहीं कहता। चेतन वस्तुओं में सिर्फ भौतिक, रासायनिक या अन्य विज्ञान द्वारा शेष विशेषताएँ रहें यह अनिवार्य नहीं। इसलिए विज्ञान के सूत्रों को सही मानते हुए भी यह ध्यान रखा जाना चाहि कि वे अधूरे हैं और उनसे विश्व या चेतना संबंधी कोई अंतिम सिद्धांत नहीं जाना जा सकता। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, पहले जो सैद्धांतिक— निष्कर्ष सही माने जाते थे, आज उनमें से अनेक गलत माने जाते हैं।

वैज्ञानिकों की कल्पना के क्षेत्र की भी अपनी सीमाएँ हैं, इसीलिए उनके द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं का सही होना आवश्यक नहीं। विशेषकर सृष्टि संबंधी व्यवस्थाएँ, विश्व-व्यवस्था के नियम और प्राचीन सभ्यताओं के बारे में धारणाएँ आधुनिक वैज्ञानिक सूत्रों से नहीं समझी जा सकतीं। कोई रसायनशास्त्री या भौतिकीविद् यदि किसी व्यक्ति के शव का रासायनिक-भौतिक विश्लेषण, परीक्षण करे तो उससे प्राप्त नतीजों द्वारा वह उस व्यक्ति के जीवित अवस्था के स्वभाव-व्यवहार को ठीक-ठीक जान नहीं सकता।

यहाँ मनुष्य के शव का उदाहरण समझाने के लिए ही दिया गया है। अमुक व्यक्ति के शव में कार्बन, लोहा, शीशा, ताँबा या विभिन्न अम्ल आदि के अवशेष किस मात्रा में हैं या शरीर संरचना कैसी है, अंत:स्रावी ग्रंथियों की आकृति कैसी है, देह के अवयव सुगठित हैं या नहीं, आतें और पाचनप्रणाली स्वस्थ है या नहीं आदि जानने के बाद भी उस व्यक्ति की चेतना का स्तर क्या था, संस्कार क्या थे, यह जानना संभव नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य समाज का अतीत में स्वरूप क्या था, विकास की किन स्थितियों से वह गुजर

चुका है, इसके बारे में निश्चित रूप से जानना तभी संभव है, जब परीक्षण-विश्लेषण करने वालों को मानव जीवन और सृष्टि-विकास के सभी रूपों की निश्चित जानकारी हो। जिसकी परिकल्पना ही संभव नहीं, उसका परीक्षण प्रयोगशाला में ठीक से नहीं हो पाता। यों तीर तुक्का भिड़ाते-भिड़ाते कभी-कोई आकस्मिक जानकारी मिल सकती है—किंतु उतने भर से सुनिश्चित सिद्धांत नहीं गढ़े जा सकते।

जो लोग आध्यात्मिक प्रतिपादनों की पुष्टि या ईश्वरीय सत्ता की उपस्थिति की जाँच के लिए वर्तमान वैज्ञानिक आधारों और नियम-सूत्रों का सहारा ढूँढ़ते हैं या वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में ही ईश्वरीयष्ट सत्ता को पकड़कर दिखाने का आग्रह करते हैं, उन्हें वे तथ्य भलीभाँति समझ लेने चाहिए। अभी तक विज्ञान द्वारा पदार्थ की सत्ता ही नहीं पकड़ी जा सकी है। उनके बारे में ही मान्यताएँ आए दिन बदलती रहती हैं। इसलिए आत्मा को पकड़कर दिखाने की माँग एक ऐसी माँग है, जो विज्ञान से उसकी शक्ति सीमा के बाहर का कार्य करने की माँग कही जा सकती है। उदारहण देना हो तो यह कह सकते हैं कि ऐसी माँग किसी पहलवान से दर्शन-शास्त्रीय गुत्थियाँ सुलझाने या किसी से संगीतज्ञ से परमाणु-भट्ठी का संचालन करने की माँग जैसा है। यों, प्रयास-परिश्रम से पहलवान दर्शनिक भी हो सकता है और संगीतज्ञ परमाणुविद् बन सकता है। परंतु उसके लिए कार्यक्षेत्र, अभ्यास-विधि और जीवनक्रम की दिशा बदलनी होगी। एक वैज्ञानिक अध्यात्मवेत्ता भी हो सकता है। आइंस्टाइन जैसे वैज्ञानिकों ने आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी की हैं। किंतु वे वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की परिधि के बाहर ही संभव हो सकी हैं।

आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण-विश्लेषक अध्यात्म की प्रयोगशालाओं में ही हो सकता है। आत्मसत्ता का अनुभव क्षेत्र भौतिक-सत्ता के अनुभव क्षेत्र से परे हैं। जो ऋषि-मनीषी, प्रज्ञा-

पुरुष अध्यात्म के प्रयोग करते रहे हैं, वे ही उसके निष्कर्ष जान सकते हैं और बता सकते हैं। यों, मान्यता बनाने के लिए सभी स्वतंत्र हैं। अभी भी ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो यह मान्यता बनाए बैठे हैं कि चंद्रलोक की यात्रा एक गल्प है। बताते हैं कि चीन की जनता को बहुत दिनों तक यही बताया जाता रहा कि अमरीका के अंतरिक्ष अभियान के दावे गपबाजी हैं। अमरीका 'तो कागजी शेर' है और वहाँ की पूँजीवादी सभ्यता अपने ही बोझ से चरमराकर टूट रही है। अपनी जनता का ध्यान अपनी विफलताओं से हटाने के लिए ही शासक अंतरिक्षीय उड़ानों के किस्से गढ़ते रहे हैं। इस प्रचार को चीनी जनता सत्य मानती रही और उसे वास्तविक तथ्य बहुत बाद में ज्ञात हुए।

आत्मा और परमात्मा के प्रति मनचाही मान्यता भी बनाए रखी जा सकती है। धर्म के नाम पर भ्रांत मान्यताएँ फली-फूली भी हैं। उनको अवास्तविकता स्पष्ट है। किंतु इतने से ही आध्यात्मिक तथ्य भी असत्य, अवास्तविक नहीं हो जाते। न ही उनके वैज्ञानिक मान्यताओं के अनुरूप होने की बाध्यता हो सकती है। आत्मसत्ता की अनुभूति के उपकरण, शोध की विधियाँ और प्राप्त परिणाम— ये सभी वैज्ञानिक उपकरणों विधियों तथा परिणामों से भिन्न हैं। उसके रहस्यों को समझने के लिए ज्ञान चक्षु, विवेक-दृष्टि, विकसित अंत:करण और आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ताओं द्वारा निर्दिष्ट-पथ का अनुसरण आवश्यक है। तभी चेतना के क्षेत्र में सत्य की शोध और लक्ष्य की उपलब्धि संभव है। यों, मानने को आस्तिकता के नाम पर भी भ्रांतियाँ मानी जा सकती हैं और नास्तिकता के नाम पर भी।

मात्र पदार्थ के स्वरूप और उपयोग की विधि-व्यवस्था को जान लेने से चेतना के स्वरूप और उससे संबंधित सभी तथ्यों को जान लिया, ऐसा नहीं माना जाना चाहिए। शीर्षस्थ विज्ञान मनीषी आज एक स्वर से कह रहे हैं। 'फ्राम द फिजिकल टू द सोशल साइंसेज' के लेखक जाक रुएफ ने स्पष्ट लिखा है—"हमारे पास

यह जानने का कोई आधार नहीं है कि भौतिकशास्त्र के सिद्धांत जिन कारणों का उद्‌घाटन करते हैं, वे वस्तुओं की असली प्रकृति हैं या नहीं।'' हाइजेन वर्ग ने इसलिए कहा है, ''जैसे ही हम वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा प्रकृति का रहस्य जानने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही प्राकृतिक स्वरूप में व्यवधान उपस्थित करते हैं। हम जो जानते हैं, वह प्रकृति के साथ हमारी क्रियाओं, प्रयोगों की प्रतिक्रिया है। उसे प्रकृति का वास्तविक स्वरूप नहीं माना जा सकता है।''

जब प्रकृति के बारे में ही यह बात है, तब पुरुष या चेतनतत्त्व का स्वरूप तो वैज्ञानिक प्रयोगों से कभी भी नहीं जाना जा सकता। जो कुछ जाना जाता है, वह पदार्थ के अमुक-अमुक स्वरूप के संपर्क एवं ज्ञान में चेतना में, उत्पन्न हलचल विशेष है। स्वयं समग्र चेतना का स्वरूप इससे नहीं ज्ञात हो पाता। चेतन-सत्ता का वास्तविक स्वरूप ऋतंभरा प्रज्ञा, अंतरात्मा या अंतर्मन द्वारा ही जाना जा सकता है। अंतर्प्रज्ञा जिसे इन्ट्यूशन कहा गया है, जब विकसित हो जाती है तो सोचने का तरीका ही बदल जाता है। कोई जरूरी नहीं कि उद्‌घोष लगाया व जोर से चिल्लाकर कहा जाए कि 'ईश्वर है।' यदि उस अनुशासन की स्वीकारोक्ति आस्तिकता के नियमों को जीवन में उतारकर ही की जाती रहे तो वह उद्‌देश्य पूरा हो जाता है। सारे मनीषी, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों के प्रयास परमसत्ता के इसी रूप को जानने एवं प्रतिपादित करने में नियोजित होते रहे हैं। अतः उन्हें खुली छूट देते हुए आस्तिक कहा जाएगा।

□

आस्तिक तत्त्वदर्शन के ठोस आधार

बुद्धिवाद ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रत्यक्षवाद के आधार पर परखना चाहा। पर प्रयोगशालाओं में उसकी सत्ता सिद्ध न हो सकी। इंद्रिय शक्ति ने भी इस संदर्भ में कुछ न किया। मस्तिष्क भी प्रमाण न खोज सका और यांत्रिकी, भौतिकी ने भी अपनी हार स्वीकार कर ली। ऐसी दशा में स्वाभाविक ही था कि बुद्धिवाद ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता। प्रकृति की क्रम व्यवस्था सुसंबद्ध और सुनियोजित है ऐसा तो माना गया, पर उसे स्वसंचालित कहकर संतोष कर लिया गया। इसके लिए किसी सृष्टिकर्त्ता का हाथ हो सकता है, इस बात से शोधकर्ताओं ने इनकार कर दिया। नास्तिकवाद की प्रचंड लहर इन्हीं वैज्ञानिक इनकारों से उत्पन्न हुई और आँधी-तूफान की तरह बौद्धिक जगत पर अपना अधिकार जमाती चली गई। पिछले दिनों ईश्वर की अस्वीकृति प्रगतिशीलता का चिन्ह बनकर उभरती रही है।

लेकिन विज्ञान ने कभी यह नहीं कहा है—ईश्वर नहीं है। उसने केवल इतना ही कहा कि उसकी अनुसंधान प्रक्रिया की पकड़ में ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं आती। इंद्रिय बोध के आधार पर सूक्ष्मदर्शी उपकरणों की सहायता से प्रयोगशालाओं में वैज्ञानिक अनुसंधान चलते हैं। इस परिधि में जो कुछ आता है, वही विज्ञान का प्रतिपाद्य विषय है। उसकी छोटी सीमा और मर्यादा है। उससे जितना कुछ जाना और समझा जा सकता है। ज्ञान पकड़ पाता है उसे ही प्रस्तुत करना उसका विषय है, इस मर्यादा में यदि ईश्वर नहीं आया है तो उसका अर्थ यह नहीं कि उसकी सत्ता है ही नहीं।

विज्ञान अपने शैशव से क्रमशः विकसित होता हुआ किशोरावस्था में प्रवेश कर रहा है, अभी उसे प्रौढ़, वृद्ध एवं परिपक्व

होने में बहुत समय लगेगा। उसे अभी तो आज की गलती कल सुधारने से ही फुरसत नहीं। बालबुद्धि आज जिस बात का जोर-शोर से प्रतिपादन करती है उसके आगे के तथ्य सामने आने पर पूर्व मान्यताएँ बदलने की घोषणा करनी पड़ती है। यह स्थिति संभव है आगे न रहे। जब विज्ञान अपनी किशोरावस्था पार करेगा और यौवन की प्रौढ़ता में प्रवेश करेगा तो उसे ऐसे आधार भी हाथ लग जाएँगे जो आज के भोंड़े उपकरणों की अपेक्षा प्रकृति की अधिक सूक्ष्मता की थाह ला सकें। तब संभवतः उन्हें पदार्थ की भौतिक शक्ति के अंतराल में छिपी हुई चेतना की परतें भी दृष्टिगोचर होने लगेंगी। आज भी इसकी संभावना स्वीकार की जा रही है। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि न होने पर भी विज्ञान अन्यान्य अनेकों संभावनाओं की तरह ईश्वर की संभावना का भी खंडन नहीं करता, वह केवल नम्र शब्दों में इतना ही कहता है कि अभी प्रयोगशालाओं ने अपनी पकड़ में ईश्वर को नहीं जकड़ पाया है। उसका खंडन इसी सीमा तक है। विज्ञानी नास्तिकता दुराग्रही नहीं है। वह अपनी वर्तमान स्थिति का विवरण मात्र प्रस्तुत करती है।

परंतु नास्तिकतावाद के पृष्ठ पोषण में जोश के साथ लगे दार्शनिकों ने विज्ञान के उसी प्रतिपादन को अपनी मान्यताओं का आधार बनाया है जो ईश्वर के अस्तित्व को प्रयोगशाला में असिद्ध होने की बात कहते हुए किए गए हैं। इससे तो यही प्रतीत होता है कि नास्तिक कहना अथवा कहलाना एक फैशन बन गया है और इस फैशनेबुल प्रतिपादन को पिछली तीन शताब्दियों में आँधी-तूफान की तरह विकसित और व्यापक होने का अवसर मिला है। साम्यवादी शासन सत्ता ने प्रस्तुत अनास्था की जड़ें और भी अधिक गहरी जमाईं, पर लगता है वह उन्माद ठंढा पड़ने लग गया है। विज्ञान को नए सिरे से अपने निर्णय पर विचार करने के लिए पीछे लौटना पड़ रहा है। जड़-पदार्थ अपने आप में नियमित हलचलें करते रह सकते हैं, पर अब पुरातनपंथियों की तरह तथाकथित

प्रगतिशीलों को भी सोचना पड़ रहा है कि सृष्टि संतुलन के जिन रहस्यों का—इकालॉजी विज्ञान के आधार पर प्रतिपादन होता चला जा रहा है, वह अनायास एवं संयोगवश चल रहा है—यह बात पूरी तरह गले नहीं उतरती। स्रष्टा कोई नहीं—उसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं—यह बात आवेश में तो कही जा सकती है, पर गहराई में उतरते ही संदेह उत्पन्न होता है कि इतनी क्रमबद्ध—परस्पर पूरक और सोद्देश्य गतिविधियाँ किसी चेतन द्वारा नियंत्रण किए बिना ही किस प्रकार चलती रह सकती हैं?

माना कि यांत्रिकी और भौतिकी के साथ-साथ बौद्धिकी भी प्रत्यक्षवादी उपकरणों के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर पा रही है, पर न मानने भर से ही तो समाधान नहीं होता। सृष्टि के संचालन क्रम में इतनी अधिक सुसंबद्धता का होना अनायास ही चल रहा है तो यह अनायास ही स्रष्टा का कार्य होना चाहिए कर्त्ता के बिना कर्म, प्रेरणा के बिना हलचल, नियंत्रण के बिना व्यवस्था क्योंकर बनी? स्वसंचालित यंत्रों पर भी तो आखिर संचालक नियुक्त रहते हैं। फिर सृष्टि जैसा विशाल संयंत्र किस प्रकार बिना किसी बुद्धिमान सत्ता का आधार लिए—क्योंकर चलता रह सकता है? यह प्रश्न पिछड़े कहे जाने वालों से लेकर प्रगतिशीलों तक को समान रूप से संक्षोभ उत्पन्न करता है। प्रमाण रहित को क्या मानें? तर्क उचित है। पर मानने की बात तो और भी अधिक भारी पड़ती है। निगलने का बहुत प्रयत्न करने पर भी वह गले में ही अटकी रह जाती है।

अणु से लेकर सौरमंडलों तक का प्रत्येक छोटा-बड़ा घटक अपने नियत कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व को तत्परतापूर्वक निर्वाह करने में संलग्न है। उनके बीच सघन सहयोग काम कर रहा है। नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के जो सिद्धांत मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक सिखाए जाते हैं। उन्हें जड़ कहे जाने वाले पदार्थ अधिक अच्छी तरह समझे और अपनाए हुए हैं, इस तथ्य को जितना स्पष्ट अब

अनुभव किया जा रहा है, उतना पहले कभी नहीं किया गया था। ऐसी दशा में बुद्धिवादियों को स्रष्टा के अस्तित्व को अस्वीकृत करने वाली पूर्व घोषणा पर पुनर्विचार करना पड़ रहा है।

एक के बाद एक प्रमाण इस स्तर के मिल रहे हैं जिनसे इस ब्रह्मांड में एक व्यापक चेतनतत्त्व का समुद्र भरा हुआ सिद्ध होता है। जैसे—शब्द, ताप, ध्वनि-प्रवाह ईथर के महासागर में दौड़ लगाते हैं। ठीक इसी प्रकार चेतना का भी अपना प्रभाव और क्षेत्र है। विचार और भावना तत्त्व किसी भौतिकी शक्ति से कम समर्थ नहीं हैं। उनकी प्रतिक्रिया मन:स्थिति पर ही नहीं परिस्थिति पर भी समान रूप से होती है। सृष्टि-संतुलन का नियंत्रण समष्टि मन करता है। यह नवीनतम वैज्ञानिक शोधों का परिणाम है। इसे प्रकारांतर से ब्रह्मसत्ता की स्वीकृति ही कह सकते हैं। इसे कितना भी नकारा जाए, मात्र संयोग कहकर वैज्ञानिक अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि स्थूल रूप से दृश्यमान किसी भी संरचना के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता है कि वे स्वनिर्मित हैं, उनका सृजेता कोई नहीं है। मात्र इसलिए कि वह दिखाई नहीं देता। चाहे वह वास्तुशिल्प हो अथवा कलाकृति, उसके साथ रचयिता का नाम स्वत: गुँथ जाता है। इस तर्क को मानना ही पड़ता है कि किसी सत्ता ने अवश्य इसका निर्माण किया है। विराट सृष्टि पर भी यही बात लागू होती है।

बिना कर्त्ता के इस सुंदर संसार के छोटे-छोटे उपादान भी अभिव्यक्ति नहीं पा सके होते। इस जगती में हर प्रात: नियम से सूर्य उगता, प्रकाश व गरमी देता है। रात थकों को अपने आँचल में विश्राम देती, तारे पथ-प्रदर्शन करते, ऋतुएँ समय पर आतीं और चली जाती हैं। हर प्राणी के लिए अनुकूल आहार, जलवायु की व्यवस्था, प्रकृति का सुव्यवस्थित स्वच्छता अभियान सब कुछ व्यवस्थित ढंग से चल रहा है। करोड़ों की संख्या में तारागण किसी व्यवस्था के अभाव में अब तक न जाने कब के लड़ मरे होते। इन

सबमें गणित कार्य न कर रहा होता तो अमुक दिन, अमुक समय सूर्य ग्रहण, चंद्र ग्रहण, मकर संक्रांति आदि का ज्ञान किस तरह हो पाता। यह प्राप्तोद्देश्य कर्म और सुंदरतम रचना बिना किसी ऐसे कलाकार से संभव नहीं हो सकती थी जो संपूर्ण ब्रह्मांड को एकरस देखता हो, सुनता हो, साधन जुटाता हो, नियम व्यवस्थाएँ बनाता हो, न्याय करता हो, जीव मात्र का पोषण-संरक्षण करता हो। नियामक के बिना नियम-व्यवस्था, प्रशासक के बिना प्रशासन चल तो सकते हैं, पर कुछ समय से अधिक नहीं, जबकि पृथ्वी को ही अस्तित्व में आए करोड़ों वर्ष बीत चुके।

संसार का हर परमाणु एक निर्धारित नियम पर काम करता है, यदि इसमें रत्ती भर भी अव्यवस्था और अनुशासनहीनता आ जाए तो विराट ब्रह्मांड एक क्षण को भी नहीं टिक पाता। एक क्षण के विस्फोट से अनंत प्रकृति में आग लग जाती और संसार अग्नि ज्वालाओं के अतिरिक्त और कुछ न होता।

हमारे जीवन का आधार सूर्य है। वह दस करोड़ ३० लाख मील की दूरी से अपनी प्रकाश किरणें भेजता है जो ८ मिनट में पृथ्वी तक पहुँचती हैं। दिनभर में यहाँ के वातावरण में इतनी सुविधाएँ एकत्र हो जाती हैं कि रात आसानी से कट जाती है। दिन-रात के इस क्रम में एक दिन भी अंतर पड़ जाए तो जीवन संकट में पड़ जाए। सूर्य के लिए पृथ्वी समुद्र में बूँद का सा नगण्य अस्तित्व रखती है, फिर उसकी तुलना में रूस के साइबेरिया प्रांत में एक गड़रिए के घर में जी रही एक चींटी का क्या अस्तित्व हो सकता है, पर वह भी मजे में दिन काट लेती है।

सूर्य अनंत अंतरिक्ष का एक नन्हा सा तारा भर है। 'रीडर्स डाइजेस्ट' ने एक एटलस छापा है उसमें सौरमंडल के लिए एक बिंदु मात्र रखा है और तीर का निशान लगाकर दूर जाकर लिखा है—"हमारा सौरमंडल यहाँ कहीं है।" यह ऐसा ही हुआ कि कोई मेरी आँख का आँसू समुद्र में गिर गया। सूर्य से तो बड़ा 'रीजल'

तारा ही है, जो उससे १५ हजार गुना बड़ा है। 'अंटेयर्स' सूर्य जैसे दो करोड़ ६० लाख गोलों को अपने भीतर आसानी से सुला सकता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रिका 'साइंस टू डे' में 'ग्राहम बेरी' ने लिखा है कि 'पृथ्वी से छोटे ग्रह भी ब्रह्मांड में हैं और ५ खरब मील की परिधि वाले भीमकाय नक्षत्र भी। किंतु यह सभी विराट ब्रह्मांड में निर्द्वंद्व विचरण कर रहे हैं, यदि कहीं कोई व्यवस्था न होती तो यह तारे आपस में ही टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो गए होते।'

सूर्य अपने केंद्र में एक करोड़ साठ लाख डिग्री सेग्रे० गरम है। यदि पृथ्वी के ऊपर अयन मंडल (आइनोस्फिर) की पट्टियाँ न चढ़ाई गई होतीं तो पृथ्वी न जाने कब की जलकर राख हो गई होती। सूरज अपने स्थान से थोड़ा सा खिसक जाए तो ध्रुव प्रदेशों की बरफ पिघलकर सारी पृथ्वी को डूबो दे, यही नहीं, उस गरमी से कड़ाह में पकने वाली पूड़ियों की तरह सारा प्राणिजगत ही पककर नष्ट हो जाए। थोड़ा ऊपर हट जाने पर समुद्र तो क्या धरती की मिट्टी तक बरफ बनकर जम सकती है। यह तथ्य बताते हैं—ग्रहों की स्थिति और व्यवस्था अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्वक की गई है। यह चित्रकार परमात्मा के अतिरिक्त और कौन हो सकता है?

सर ए० एस० एडिंगटन ने इसी तथ्य को यों प्रतिपादित किया है—"भौतिक पदार्थों के भीतर एक चेतन शक्ति काम कर रही है जिसे अणु क्रिया का प्राण कहा जा सकता है। हम उसका सही स्वरूप और क्रिया-कलाप अभी नहीं जानते, पर यह अनुभव कर सकते है कि संसार में जो कुछ हो रहा है वह अनायास, आकस्मिक या अविचारपूर्ण नहीं है।"

प्रकाश का न तो कोई भार होता है, न वह स्थान घेरता है और न ही उसका विभाजन किया जा सकता है। पदार्थ का अंतिम कण जो परमाणु से भी सूक्ष्म है ठीक प्रकाश की तरह है, परंतु उसका एक वैचित्र्य भी है कि वह तरंग होने के साथ-साथ स्थान भी घेरता है। वैज्ञानिकों ने परमाणु से भी सूक्ष्म इस स्वरूप

को नाम दिया है—'क्वांटा'। कहने का अर्थ यह है कि भौतिक विज्ञान अभी पदार्थ का विश्लेषण करने में भलीभाँति समर्थ नहीं हो सका है, फिर चेतना का विश्लेषण और प्रमाणीकरण करना तो बहुत दूर की बात है।

'मिस्टिरियस यूनिवर्स' ग्रंथ के रचयिता सर जेम्स जीन्स ने लिखा है "विज्ञान जगत अब पदार्थ सत्ता का नियंत्रण करने वाली चेतन सत्ता की ओर उन्मुख हो रहा है तथा यह खोजने में लगा है कि हर पदार्थ को गुण-धर्म की रीति-नीति में नियंत्रित करने वाली व्यापक चेतना का स्वरूप क्या है? पदार्थ की स्वसंचालिता इतनी अपूर्व है कि उस आधार पर प्राणियों की चिंतन क्षमता का कोई समाधान नहीं मिलता।"

ख्याति प्राप्त विज्ञानवेत्ता टेंडल ने अपने ग्रंथ फ्रेगमेंट्स ऑफ साइंस में लिखा है—"हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन और कुछ ऐसे ही जड़ ज्ञान शून्य पदार्थों के परमाणुओं से जीवन चेतना का उदय हुआ, यह कहना असंगत है। क्योंकि जीवन चेतना का स्पंदन हर जगह इतना सुव्यवस्थित और सुनियोजित है कि उसे संयोग मात्र नहीं कहा जा सकता। चौपड़ के पाँसे खड़खड़ाने से होमर के काव्य की प्रतिभा एवं गेंद की फड़फड़ाहट से गणित के डिफरेंशियल सिद्धांत का उद्भव कैसे हो सकता है?"

'पुगमेण्ट्स ऑफ साइंस' के लेखक ने लिखा है कि "यांत्रिक प्रक्रिया के माध्यम से देखना, सोचना, स्वप्न, संवेदना और आदर्शवादी भावनाओं के उभार की कोई तुक नहीं बैठती। शरीरयात्रा की आवश्यकता पूरी करने के अतिरिक्त मनुष्य जो कुछ सोचता, चाहता और करता है तथा संसार में जो कुछ भी ज्ञात-विज्ञात है, वह इतना अद्भुत है कि जड़ परमाणुओं के संयोग से उनके निर्माण की कोई संगति नहीं बिठाई जा सकती।

दार्शनिक कांट ने स्पेंसर के कथन को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—"नैतिक नियमों की स्वीकृति ही परमात्मा के अस्तित्व

का प्रमाण और पूर्ण नैतिकता ही उसका स्वरूप है। संसार का बुरे से बुरा व्यक्ति भी किसी न किसी के प्रति नैतिक अवश्य होता है। चोर, डकैत और कसाई तक अपने बच्चों के प्रति दयालु और कर्त्तव्यपरायण होते हैं जबकि वे जीवन भर कुत्सित कर्म ही करते रहते हैं। अपने भीतर से नैतिक नियमों की स्वीकृति इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि संसार केवल नैतिकता के लिए ही जीवित है। उसी से संसार का निर्माण, पालन और पोषण हो रहा है। इसलिए परमात्मा नैतिक शक्ति के रूप में माना जाने योग्य है।''

वैज्ञानिक सृष्टि की नियामक विधि-व्यवस्था प्रत्येक अणु में विद्यमान दिव्य चेतना को नहीं झुठलाती। हर्बर्ट स्पेंसर की दृष्टि में भगवान एक विराट शक्ति है जो संसार की सब गतिविधियों का नियंत्रण उसी प्रकार करता है जिस प्रकार घर का मुखिया, गाँव का प्रधान, जिले का कलेक्टर और प्रांत का गवर्नर। राज्य के नियमों का हम इसलिए पालन करते हैं क्योंकि हमें राजदंड का भय होता है। नैतिक नियमों का पालन न करने पर हमें भय लगता है जबकि हम उसके लिए पूर्ण स्वतंत्र होते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि संसार में कोई सर्वोच्च सत्ता काम करती है। निर्भीक व्यक्ति, नैतिक व्यक्ति ही हो सकता है, इस तथ्य से यह भी स्पष्ट है कि वह प्रजावत्सल और न्यायकारी भी है।

विज्ञान ने जड़ के अंतराल में समाई हुई एक ऐसी शक्ति को अब स्वीकार कर लिया है, जो व्यापक भी है और बुद्धिमान भी। यह प्राकृतिक है या आध्यात्मिक, इस प्रश्न पर विचार करने का अभी समय नहीं आया, पर 'ब्रह्मांडीय चेतना' का अस्तित्व अब विज्ञान क्षेत्र में मान्यता प्राप्त करता चला जा रहा है। इस सर्वव्यापी चेतना ने सृष्टि की हलचलों के साथ स्नेह, सौंदर्य एवं आनंद की अनुभूति जुड़ी रह सके और जीवधारी इस प्रवास यात्रा का समुचित आनंद ले सकें ऐसी व्यवस्था भी जोड़कर रखी हुई है। उत्पादन, अभिवर्द्धन, ढलान और परिवर्तन का चक्र अपनी धुरी पर घूमता है। ग्रह-नक्षत्रों से

लेकर अणु-परमाणु तक के छोटे-बड़े सृष्टि घटक अपने निर्धारित गतिचक्र में तत्परतापूर्वक भ्रमण करते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया सुनिश्चित है पेंडुलम की तरह यहाँ आगे बढ़ना और पीछे हटना भी होता रहता है। लगता है किसी ने बुद्धिरहित अनगढ़ सृष्टि नहीं रची है, वरन उसके पीछे सुव्यवस्था के ऐसे तीर कस दिए हैं कि गड़बड़ी होते-होते स्वयमेव सँभल जाती है।

आइंस्टाइन जैसा विचारशील व्यक्ति इसलिए उस अदृश्य सत्ता की अनुभूति कर कह उठते हैं—"पदार्थ की सूक्ष्मतम सत्ता तक पहुँचकर मेरी कल्पना—शक्ति एवं अनुभव शक्ति इस विश्वास को जन्म देती है कि वहाँ विचार एवं परिवर्तन करने वाली कोई चेतनसत्ता पहले से ही विद्यमान है। मैंने तो बस उस चेतनसत्ता के साथ एकाकारिता की स्थिति प्राप्त कर ही इस सूक्ष्मतर सत्ता का बोध प्राप्त किया है। अब मुझे विश्वास होने लगा है कि यह चेतन सत्ता अदृश्य जगत की सूक्ष्म, किंतु महान शक्तिशाली सत्ता है।

इसी तत्त्वदर्शी दृष्टि से देखने पर हर चिंतक मनीषी ने ईश्वर की सत्ता को प्रत्यक्ष अनुभव किया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन के संबंध में विख्यात था कि ये ईश्वर उपासना में भी उतनी ही रुचि लेते और लगन रखते थे जितनी कि वैज्ञानिक प्रयोगों में। एक बार उनके किसी मित्र ने उनसे पूछा—"आप वैज्ञानिक होकर भी ईश्वर की उपासना करते हैं, जबकि कई वैज्ञानिक तो ईश्वर के अस्तित्व को ही संदिग्ध बताते हैं। अतएव आप अधिक प्रामाणिक ढंग से बता सकते हैं—ईश्वर क्या है?"

'ज्ञान' न्यूटन ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया। "हमारा मस्तिष्क ज्ञान की खोज में जहाँ पहुँचता है, वहीं उसे शाश्वत चेतना का ज्ञान होता है। कण-कण में जो ज्ञान की अनुभूति भरी पड़ी है, वह परमात्मा का ही स्वरूप है। ज्ञान की ही शक्ति से संसार का नियंत्रण होता है। विनाश के लिए भी ज्ञान की ही आवश्यकता है। परमात्मा इसी रूप में सर्वशक्तिमान है।"

सन् १९३७ में प्रकाशित 'दि न्यू बैक ग्राउंड ऑफ साइंस' नामक पुस्तक में सर जेम्स जीन्स ने लिखा था—उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान में पदार्थ और जगत-ऊँचे सिद्धांत माने जाते थे, अब हम उनसे दूर होते चले जाएँगे। अब जो नए तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं उनसे हम विवश हैं कि प्रारंभ में शीघ्रता में आकर हमने जो धारणा बना ली थीं, उसे अब फिर से जाँचें। अब मालूम होता है कि जिस जड़ पदार्थ को शाश्वत सत्य मानकर बैठे थे वह भ्रम है। पदार्थ मन या आत्मा से पैदा हुआ है और उसी का ही रूप है। दृश्य जगत का संचालन रासायनिक नहीं, यह सूत्र किसी महान अदृश्य चेतन सत्ता के साथ है, यह तथ्य देर तक झुठलाया नहीं जा सकता।"

सर आलिवर लॉज ने 'आत्मा और मृत्यु' विषय पर भाषण करते हुए सन् १९३० में ब्रिस्टल में कहा था—"यह सच है कि हम सब चेतन जगत में जी रहे हैं। यह चेतना शक्ति पदार्थ पर हावी है" पदार्थ उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

सन् १९३४ में प्रकाशित पुस्तक 'दि ग्रेट डिजाइन' में विश्व के १४ प्रख्यात विज्ञानाचार्यों का संयुक्त प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ है—इस संसार को एक मशीन कहें तो यह मानना पड़ेगा कि वह अनायास ही नहीं बन गई, वरन पदार्थ से भी सूक्ष्म मस्तिष्क और चेतना शक्ति उसका नियंत्रण कर रही है।

वैज्ञानिकों, विचारकों, दार्शनिकों के यह कथन भ्रांत प्रलाप नहीं ठहराए जा सकते। यह प्रतिपादन अनुभूतियों और तथ्यों की ठोस शिला पर आधारित हैं। ब्रह्म की सत्ता दृश्य जगत का प्राण है उनके बिना इतना व्यवस्थित विश्व कभी भी संभव नहीं हो सकता था।

□

कोई नियामक सत्ता है, इसके कई प्रमाण हैं

विज्ञान को प्रत्यक्षवाद का समर्थक माना जाता है। जो दृश्यमान है, उसके लिए वही प्रमाण है। नियामक सत्ता को भी विज्ञानवेत्ता उसी कसौटी पर कसते हैं। विषय की गहराई तक न जा पाने वाले ईश्वरीय सत्ता के अस्तित्व को नकारते एवं नास्तिकवाद की दुहाई देते देखे जाते हैं। जिन्हें विवेक-बुद्धि प्राप्त है, वे सृष्टि के क्रिया-कलापों में, हर गतिशील जड़ एवं चेतन पदार्थ के मूल में एक सर्वशक्तिमान सत्ता की गतिविधियों का दर्शन कर कह उठते हैं कि ईश्वरीय सत्ता का अस्तित्व है। इसके प्रमाण पग-पग पर विद्यमान हैं।

जड़ के अंतराल में काम करने वाली चेतना को पिछली शताब्दियों की तुलना में अब अधिक अच्छी तरह समझ सकने के लिए साधन बने और आधार प्राप्त हुए हैं। शरीर में काम करने वाले जीवाणुओं की संरचना और क्रिया पद्धति को समझने पर ज्ञात होता है कि इनके भीतर मात्र गति ही नहीं बुद्धिमत्ता एवं इच्छाशक्ति भी काम कर रही है।

शरीर का प्रत्येक जीवकोश स्वतंत्र चिंतन की भी क्षमता रखता है। लेकिन संपूर्ण शरीर के निर्माण के लिए शरीरस्थ सभी जीवाणु मिलकर कार्य करते हैं। इनका नेतृत्व करता है 'सुपरईगो' या अहंतत्त्व। वही सबका संचालक-निर्देशक है। वह कमांडर है, लेकिन फौज के प्रत्येक जवान में, शरीरस्थ हर एक जीवाणु में स्वतंत्र विचार शक्ति भी है। उन्हें मालूम है कि हमारे लक्ष्य की प्राप्ति तभी संभव है, जब हम नेता का, कमांडर का, अहंतत्त्व का निर्देश पूरी तरह मानें। यह बोध

उन्हें समर्पण की प्रेरणा देता है। समर्पण की दिव्य भावना से निरंतर क्रियाशील प्रत्येक जीवाणु 'अहं' की आज्ञा का ही अनुसरण करते हैं। इस 'मैं' का सुख ही, सभी जीवकोशों का सुख और उसका दुःख सबका दुःख बन जाता है। 'मैं' की विचार-विद्युत शरीर की सभी कोशिकाओं में तीव्रतम वेग से कोंध जाती है। 'मैं' का उल्लास, उत्साह उन्हें स्फूर्ति, उमंग और ओज से भर देता है और मैं की हताश-निराशा उन्हें पीत-मुख, श्लथ-तन, उदास और निष्क्रिय बना जाती है। मानो हर जीवकोश एक छोटा स्टेशन है जो अपने मुख्य स्टेशन 'अहंतत्त्व' से जुड़ा है।

मस्तिष्क के जीवाणु अन्य देहांगों के जीवाणुओं से अधिक प्राणशक्ति संपन्न होते हैं। उनमें सुदीर्घ अनुभवों की स्मृतियाँ संचित होती हैं अतः वे सभी जीवाणुओं के नेता होते हैं। किंतु देह के सभी जीवाणु परस्पर एकदूसरे से संबंद्ध होते हैं। तीव्र क्षुधा-ज्वाला से दग्ध एक व्यक्ति सुस्वाद व्यंजनों के थाल के सामने बैठकर पहला ग्रास तोड़ता है कि तभी उसके किसी परम आत्मीय की मृत्यु की सूचनास्वरूप टेलीग्राम उसे मिलता है। तार पढ़ते ही उस व्यक्ति का हृदय जैसे निष्प्राण हो जाता है। शरीर के सभी अंगों में ऐंठन सी मच जाती है। लगता है जैसे पूरे शरीर की ज्योति अत्यंत मंद हो चली है। भूख का कहीं अता-पता नहीं। जीभ सूख जाती है। मस्तिष्क में एक स्तब्धता सी छाने लगती है। अब विचार करें कि क्षुधा को शांत करने की तीव्र प्रेरणा देने वाले जीवाणुओं का वह जोश कहाँ खो गया? वे भी मन मस्तिष्क के घनीभूत विषाद से समरस हो गए और अपनी प्रचंड आकांक्षा तक भुला बैठे। इसमें दो निष्कर्ष हमारे सामने आते हैं। पहला यह कि अपनी अंतश्चेतना ही शरीर के समस्त जीवाणुओं पर प्रभाव डालती है। अतः इन जीवाणुओं को पुष्ट, प्रसन्न और प्रगतिशील रखने के लिए चित्त में स्फूर्ति और उल्लास का सातत्य आवश्यक है। मन की दरिद्रता, दैन्य या दुराशा देह भर में जीवाणुओं के क्षोभ व क्षीणता का कारण बनती है। अपने

शरीर के अंगों और जीवाणुओं पर सदा संदेह कीजिए मत। अन्यथा वे सचमुच ही संदिग्ध व संकीर्ण बुद्धि के शिथिल और सिमटे हुए से अर्थात अल्प प्राण हो जाएँगे। अपने आप पर विश्वास करें। यह आत्मविश्वास उन्हें अदम्य स्फूर्ति, उल्लास और आवेग देगा। वे प्रस्तुत बाधाओं को चीरते हुए, शरीर को स्वस्थ, प्रसन्न रखने के लिए सदा सक्रिय रहेंगे।

सामान्यत: मस्तिष्क को बुद्धि का एकमात्र स्थान माना जाता है। किंतु बुद्धि वस्तुत: एक वैद्युतिक ऊर्जा है, वह शरीर में संव्याप्त है। मस्तिष्क उसका मुख्यालय भर था, मात्र शरीर की दृष्टि से ही, क्योंकि स्वयं मस्तिष्क विश्व की चेतना उर्मियों से प्रतिपल प्रभावित होता है।

धातुओं, पाषाण आदि में भी प्रसुप्त चेतना पाई गई है। जड़ पदार्थों को भी अति न्यून जीवनीशक्ति संपन्न प्राणी कहा जा सकता है। प्रत्येक जड़-पदार्थ में चेतन की इस झाँकी को उसकी विकास-आकांक्षा कहा जा सकता है। ऐसा परिलक्षित होता है कि सभी जड़तत्त्व चेतना का स्तर अधिकाधिक विकसित करने का निरंतर प्रयास कर रहे हैं। धातुओं में जंग लगना, पानी की सतह पर काई उत्पन्न होना, जल-जंतुओं का उद्‌भव, वनस्पति में जीव-जंतुओं का उत्पन्न होना, मिट्‌टी में उर्वरक जीवाणुओं का पाया जाना, पत्थर से शिलाजीत जैसे पदार्थों का निकलना यह बताता है कि इनमें भी जीवन मौजूद है और वह क्रमश: शैशव, यौवन, वृद्धता एवं यौवन की धुरी पर अपनी निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार भ्रमण कर रहे हैं।

वृक्ष-वनस्पतियों का जीवनक्रम भी अन्य प्राणियों जैसा ही है। उन्हें स्थिर एवं पिछड़े कहा जाना तो ठीक हो सकता है, पर यह सोचना गलत है कि उनमें अनुभूतियों एवं संवेदनाओं का सर्वथा अभाव है। भारत के मूर्द्धन्य वैज्ञानिक जगदीश बोस ने यह सिद्ध किया था कि पौधे भी सोचते, इच्छा करते और परिस्थितियों से प्रभावित होकर सुख-दु:ख मानते हैं। संगीत और शोर का जो

भला-बुरा प्रभाव वनस्पतियों पर पड़ता है उसने भी यही सिद्ध किया है कि उनमें भी संवेदना मौजूद है। स्तर न्यूनाधिक हो सकता है, पर वैज्ञानिकों की भाषा में नया नामकरण मिला 'ब्रह्मांडीय चेतना' का—पुरातन अध्यात्म की भाषा में पुकारी जाने वाली—ब्रह्मसत्ता का अभाव कहीं नहीं।

इतने व्यापक और प्रत्यक्ष अनुभव होने वाले तत्त्व को प्रयोगशाला में सिद्ध न होने के कारण अस्तित्वहीन करार देना जड़ बुद्धि का द्योतक है? विज्ञान को भी अपनी भूल को सुधार कर यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा है कि वह तत्त्व प्रयोगशाला में सिद्ध नहीं हुआ, फिर भी किसी विचारवान और बुद्धिमान नियामक सत्ता का अभाव नहीं।

ईश्वर की मान्यता सृष्टि का सर्वोच्च विज्ञान है और परम सत्य की खोज, विज्ञान का इष्ट। अतएव वैज्ञानिकों के निष्कर्षों की उपेक्षा करने का अर्थ असत्य का समर्थन और सत्य से इनकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। समय-समय पर वैज्ञानिकों की सम्मतियाँ प्रकाश में आती रही हैं जिनमें उन्होंने विराट के प्रति, असीम के प्रति श्रद्धावश ज्ञान के अगाध विस्तार और मानवीय विवेक के आधार पर समर्थ सत्ता के औचित्य को स्वीकार किया है। ऐसा ही जोरदार प्रश्न एक बार अमेरिका के वैज्ञानिकों के सम्मुख वहाँ के बुद्धिवादियों ने उठा दिया। उस समय 'न्यूयार्क एकेडेमी ऑफ साइंसेज' के तत्कालीन अध्यक्ष—वैज्ञानिक ए क्रेशी मारिशन ने उसका उत्तर इतने तार्किक और व्यवस्थित ढंग से दिया जिससे डारविन के सिद्धांत को मानने वालों में तहलका मच गया। ईश्वरीय अस्तित्व के प्रतिपादन में उन्होंने जो मूलभूत आधार निश्चित किए हैं, वे इतने सशक्त और प्राणवान हैं जिनसे एकाएक तो कोई पूर्वाग्रह ग्रस्त नास्तिक भी इनकार नहीं कर सकता। यह सभी सिद्धांत भारतीय सिद्धांत सृष्टिकर्त्ता के—(१) सृजनकर्त्ता (२) पालनकर्त्ता (३) संहारकर्त्ता तीनों स्वरूपों का प्रतिपादन करते हैं।

योरोप तथा एशिया के वैज्ञानिकों के समक्ष अपनी बात प्रस्तुत करते हुए मारिशन महोदय ने बताया कि सृष्टि संरचना पर दृष्टि दौड़ाते हैं तो ऐसा लगता है सारा निर्माण किसी गणितज्ञ, सूझ-बूझ वाले, बुद्धिमान चीफ इंजीनियर की देख-रेख प्लानिंग के अंतर्गत हुआ है; सृष्टि का प्रादुर्भाव एकाएक, अकस्मात दुर्घटनावश, यों ही नहीं हो गया। रेल की रेल से, मोटर से, पुल से दुर्घटना हो जाती है, तो ध्वंश होता है, विनाश होता है, त्राहि-त्राहि मचती है जबकि संसार में अच्छी से अच्छी और उससे अच्छी प्रसन्नतादायक रचनाएँ निर्गत होती चली आती हैं, ध्वंश के स्थान पर व्यवस्था दिखाई देती है। दुर्घटना कभी-कभी होती है, आकस्मिकता का नंबर करोड़ों बार के प्रयोग में कहीं एक बार आता है। उदाहरण के लिए दस-दस नए पैसे के दस सिक्के लें उन पर एक से दस तक के नंबर डाल दें। सारे सिक्कों को दोनों हथेलियों का घोंसला बनाकर देर तक हिलाएँ और उन्हें फिर एक गड्डी में रख दें। यह क्रिया सौ-दो सौ बार दोहराएँ तो यह संभव है कि एक नंबर का सिक्का ठीक एक नंबर पर ही आ जाए। हजार-दो हजार बार में एक नंबर के बाद दूसरा भी क्रम में आ सकता है, चार-पाँच हजार बार में संभव है एक, दो, तीन नंबर वाले सिक्के भी क्रम में आ जाएँ। एक से दस तक के सभी सिक्के एक ही क्रम में आ जाएँ। उस स्थिति के लिए लाखों-करोड़ों असंख्य बार यह क्रिया दोहरानी पड़ सकती है। यदि सिक्कों को आँखों से देखकर, ज्ञान से उनके नंबर पढ़कर क्रम बार लगाएँ तो एक से अधिक बार की क्रिया दोहरानी नहीं पड़ेगी। प्रकृति की, सृष्टि की सुव्यवस्थाएँ इस बात की प्रमाण हैं कि यह सारी रचना प्रकाश में, बुद्धि के द्वारा देख, सुन, समझ और निष्कर्षों को ध्यान में रखकर की गई है।

सूर्य, जीवन का स्रोत और प्राणीय चेतना का आधार माना गया है। वह पृथ्वी से ९ करोड़ मील दूर है, उसकी सतह का तापमान १२००० डिगरी फारेनहाइट है। पहले तो यही स्पष्ट है कि यदि इस

दूरी को थोड़ा भी कम कर दिया जाता तो पृथ्वी में इतनी भयंकर ऊर्जा होती कि न तो यहाँ वृक्ष-वनस्पति होते और न प्राणि-जगत। जीवन के लिए जितने ताप की आवश्यकता है, उतना इतनी ही दूरी में संतुलित रह सकता है। यही नहीं ऐसी किरणें भी हैं जो इतनी दूरी पर भी विनाश कर सकती थीं, उनसे रक्षा के लिए वायुमंडल (आइनोस्फियर) से पृथ्वी को बंद कर दिया गया। बात इतने से भी बनती न थी, यदि पृथ्वी को स्थिर रखा गया होता, तब भी यहाँ इतना अधिक ताप आ जाता कि लोग भीड़-भाड़ की गरमी में भुन जाने वाले चने की तरह जलकर फुटका हो जाते। इस दृष्टि से पृथ्वी को जान-बूझकर उसकी अपनी ही कक्षा में प्रति घंटे एक हजार मील की गति से घुमा दिया गया जिससे मरुत देव गतिमान हुए और उन्होंने ताप और शीत का नियंत्रण प्रारंभ कर दिया। कदाचित इस गति को १००० की अपेक्षा १०० मील प्रति घंटे कर दिया गया होता तो इसका अर्थ यह होता कि पृथ्वी के दिन और रात १२०-१२० घंटे के होने लगते। १२ घंटे की गरमी और सक्रियता से थककर चकनाचूर हो जाने वाले मनुष्य को दस गुने बड़े दिन को काटना ही कठिन पड़ जाता, ऊपर से मध्याह्न की किरणों इतनी वीभत्स अग्निवर्षा करतीं कि मिट्टी में भी आग लग जाती और वह स्वयं भी जलकर या तो तरल लौ की शकल में हो जाती या भाप बनकर उड़ जाती। रात में यही स्थिति ठीक उलटी अर्थात् हिम-प्रलय जैसी होती। उस स्थिति में जीवन की कल्पना करना ही कठिन हो जाता। जो बात सूर्य की दूरी से ऋतु नियंत्रण पर लागू होती है, वहीं चंद्रमा की दूरी पर, समुद्र के नियंत्रण पर। इस दूरी में थोड़ा भी अंतर पड़ने से चंद्रमा ही पृथ्वी को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता।

उस बड़े इंजीनियर का रेखागणित ज्ञान तो उस समय आश्चर्यचकित कर देता है जब पता चलता है कि पृथ्वी अपने ही कक्ष में २३ अंश झुकी हुई है। यदि ऐसा न होता तो महासागरों का सारा जल वाष्प विभक्त होकर कुछ उत्तरी ध्रुव में भाग जाता, कुछ

दक्षिणी ध्रुव में। फिर न यह सुहावने बादल आते, न रिमझिम वर्षा होती, न झरनों की झरझर, न नदियों की कलकल और न पौधों का बढ़ना, फूलना, फलना सारी शोभा विनाश के गर्भ में डूब जाती।

पृथ्वी कुल दस फुट मोटी होती तो जीवजगत के लिए ऑक्सीजन ही संभव न होता। समुद्र दस फुट गहरा होता तो कार्बन डाईऑक्साइड और ऑक्सीजन का संतुलन ही न बैठता, वायुमंडल विरल होता तो तारों का उलकापात इस तरह होता मानो किसी बगीचे में आम टपकते हों, सारी धरती लहू-लुहान होती, सौंदर्य नाम की तो यहाँ कोई सत्ता ही न होती।

अपना दूसरा तर्क प्रस्तुत करते हुए डॉ० मारिशन ने बताया कि जिन दिनों डारविन विकासवाद सिद्धांत प्रतिपादित करने में जुटे थे उन दिनों 'प्रोटोप्लाज्मा' या 'कोशिका विज्ञान' का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया था। इस विज्ञान से जीवन का सूक्ष्मतम स्वरूप सामने आया और यह सिद्ध हो गया कि कोशिका उसी तरह का एक बह्मांड जैसा हमारा वाह्य दृश्य ब्रह्मांड। उसमें से नाभिक की इच्छा से प्लाज्मा की हलचल होती है, स्वयं साइटोप्लाज्मा से नाभिक नहीं बनता। इसे यों समझ सकते हैं कि दृश्य प्रकृति का निर्माण सूर्य करता है। दृश्य प्रकृति ने सूर्य का निर्माण नहीं किया। यह चेतना ही जीवन है और भार न होने पर भी इतनी शक्तिशाली है कि पौधे में अभिव्यक्त होता है तो चट्टान को फोड़कर ऊपर आ जाता है। इतना बड़ा कलाकार है कि फूलों में तरह-तरह के रंग भरता रहता है, प्रत्येक जीव को समूह गान की प्रेरणा देकर उसने अपने आप को महान संगीतज्ञ और प्रत्येक फूल में अलग-अलग तरह की गंध भरकर उसे अपना महान रसायनज्ञ (केमिस्ट) स्वरूप ही दरसा दिया है।

बाजार की किसी खिलौने वाली दूकान में जाते हैं तो झांझ बजाने वाली गुड़िया, नाच दिखाने और ढपली बजाने वाले बंदर, दौड़ाने वाले घोड़े, तेज गति से दौड़ाने वाली बसें, रेलें और हैलीकॉप्टर आदि तरह-तरह के खिलौने देखकर मन प्रसन्न हो उठता है।

सामान्य दृष्टि में यह खिलौना चाभी भर देने से चलने वाले होते हैं, पर विचारशील व्यक्ति उसे इंजीनियरिंग बुद्धि का कौशल मानते और कारीगरों की प्रशंसा करते हैं जिन्होंने उनके भीतर इस तरह मशीनरी का निर्माण कर दिया जिससे निर्जीव घोड़े, प्लास्टिक के बंदर भी सजीव से गति करते दिखाई देने लगते हैं।

सृष्टि में दृष्टि दौड़ाएँ तो लगता है कि यहाँ भी एक विलक्षण इंजीनियरिंग का कमाल भरा हुआ है। खिलौनों की मशीन की तुलना प्रकृति के नन्हें-नन्हें जीव-जंतुओं से लेकर विशालकाय पशुओं तक अंतर्प्रवृत्तियों से की जाती है। इनमें मनुष्यों की तरह की विचार शक्ति नहीं होती, उनमें लिखने-पढ़ने या गूढ़ विषयों को सोचने-समझने की भी सामर्थ्य नहीं होती, पर जिस तरह चाभी भरे हुए खिलौने वैसी ही गति करने लगते हैं जैसे उनके मूल उपमान तो यह विश्वास न करने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता कि सृष्टि का कोई नियंता नहीं है। अंतर्प्रवृत्तियों का यह इतिहास इतना अचरज भरा है कि उसमें सिवा सृष्टिस्रजेता के सर्वज्ञ सर्वकुशल और सर्वशक्तिामन होने के अतिरिक्त दूसरी बात ही मस्तिष्क में नहीं आती। अस्तित्व में न होने की बात तो बिलकुल ही गले नहीं उतरती।

सालमन मछली वर्षों तक समुद्र में रहती है और जब कभी अपने जन्मस्थान की याद करती है तो समुद्र से चलकर अनेक बड़ी नदियों, सहायक नदियों की यात्रा करती हुई ठीक उसी स्थान पर पहुँच जाती है, जहाँ उसका जन्म हुआ था। यदि उसे विपरीत दिशा में मोड़ने का प्रयत्न भी किया जाए या धोखा देने का प्रयास किया जाए तो भी उसे बहकाया नहीं जा सकता, वह घूम-फिरकर लौटेगी अपने सही स्थान को ही।

टिड्डियाँ किसी उपयुक्त स्थान पर अंडे देकर उड़ जाती हैं। पीछे बिना अभिभावकों की देख-रेख के अंडों से बच्चे निकल आते हैं और अपने पूर्वजों के पीछे-पीछे यात्रा पर उसी दिशा में चल पड़ते हैं और कुछ समय पश्चात अपने पितरों से जा मिलते हैं।

प्रवासी पक्षी एक ऋतु कहीं गुजारते हैं दूसरी के लिए कठिन यात्राएँ करके ठीक उसी स्थान पर जा पहुँचते हैं, जहाँ उनके वंशधर आते-जाते रहे हैं। यह सारे कार्य अंतर्प्रवृत्ति के सहारे चलते हैं। यह प्रवृत्तियाँ और कुछ नहीं वह चाभियाँ हैं जो नियंता ने उनमें पहले से भरकर छोड़ दी हैं।

ईल मछली इस तरह का सर्वाधिक आश्चर्यजनक उदाहरण है। दुनिया भर की सभी ईलें चाहे वह ग्रेट वैरियर की हों या कश्मीर की डल झील की, अंडे-बच्चे वे अटलांटिक के बारामूला क्षेत्र में जहाँ समुद्र संसार में सबसे गहरा है, में ही देती हैं। यह वही स्थान है। जहाँ से पृथ्वी ऐसे ब्रह्मांडीय शक्ति-प्रवाह से जुड़ी है, जहाँ आकाश में गया कोई भी जहाज आज तक लौटा नहीं, यह कहाँ अंतर्धान हो जाते हैं, यह आज तक भी कोई जान नहीं पाया।

झीलों की ईलें, वहाँ से निकलने वाली नदियों से होकर समुद्र तथा समुद्र से अटलांटिक महासागर और वहाँ से बारामूला पहुँचती हैं, वहाँ बच्चे देकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देती हैं। जिस मछली ने कोई भूगोल नहीं पढ़ी, जिसे महाद्वीपों का ज्ञान नहीं, वही ईलें यहाँ जन्म लेने के उपरांत अपने माता-पिता के देश चल देती हैं और बड़े-बड़े महासागर पार कर ठीक वहीं जा पहुँचती हैं, जहाँ उनके माता-पिता कभी जीवनयापन किया करते थे।

ततैया की तरह का कीड़ा वाष्प ऐसा जीव है जिसके बच्चों के विकास के लिए जीवित जीव का मांस चाहिए, मृत का नहीं, वाष्प कीड़ा घास के कीड़े को पकड़ता है और उसे मिट्टी में इस तरह गाड़ देता है जिससे वह मरता नहीं वरन मूर्च्छित हो जाता है, इस तरह जीवित किंतु अचेतन घास के कीड़े से ही यह बच्चे अपना विकास कर लेते हैं। यह बुद्धि का खेल नहीं है, यह मात्र भरी हुई चाभी का खेल है, यदि बुद्धि की बात होती तो हाथी विधिवत खेती कर रहे होते, शेर अपने बच्चों के लिए विद्यालय खोले हुए होते, भेड़ियों की मनुष्य से मित्रता हो गई होती, बंदर बगीचों के मालिक

हो गए होते। ठीक उसी तरह जिस तरह चाभी भरा घोड़ा आदमी को देशाटन करा सकता तो हर मनुष्य की अपनी रेलगाड़ी होती और हैलीकॉप्टर से कम में कोई यात्रा नहीं कर रहा होता।

मनुष्य में बौद्धिक क्षमताओं की असीम संभावनाएँ परमात्मा के अस्तित्व का चौथा बड़ा प्रमाण है। इस इलैक्ट्रॉनिक युग में जबकि दुनियाँ भर के सारे कार्य कंप्यूटर करने लगे हैं, मानवीय बुद्धि की तुलना में सभी हतप्रभ हैं। गणित के उतने हल जितनी जानकारियाँ भरी गई हों कंप्यूटर प्रदान कर सकता है, पर किसी भी तरह की बात का तात्कालिक परिस्थितिजन्य तथा ऐसा उत्तर जिसमें भावनाएँ भी जुड़ी हुई हों, वह दे नहीं सकता। शरीर की रचना जैसी मशीन नहीं, बुद्धि और विवेक जैसी चेतनता अन्यत्र नहीं, इस रूप में उसने साक्षात अपनी ही चेतना का एक अंश मानवीय प्राणों में घोल दिया है।

अब जब कि विज्ञान की एक नई धारा-जेनेटिक्स (आनुवंशिकी) का विकास हो रहा है, यह विलक्षणताएँ और भी स्पष्ट होने लगी हैं। उँगली के एक छोटे से पोर में ही २ हजार मिलियन अर्थात २०००००००००० विचित्रताएँ और शक्तियाँ गुणसूत्र रूप में सन्निहित पाई गई हैं, इसका अर्थ हुआ कि एक मनुष्य के शरीर में सारा ब्रह्मांड उस तरह समाया हुआ है जिस तरह एक नन्हें बीज में वृक्ष की सारी संभावनाएँ विद्यमान रहती हैं। यदि छोटे से पिंड की ही दो प्रकृतियाँ अर्थात एक जड़ प्रकृति, दूसरी चेतन दो शक्तियाँ कार्यरत हैं, उसी तरह ब्रह्मांड में भी उस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है, यह समष्टि चेतना ही परमात्मा हो सकती है यदि यह दो तत्त्व भिन्न न होते तो मृत्यु के बाद भी शरीर के सभी आवश्यक तत्त्व विद्यमान रहने पर भी मनुष्य की चेतना का लोप नहीं हो जाता। प्रकृति अपने आप में अत्यंत समर्थ सत्ता है, पर जीव के उत्पादन की क्षमता उसमें नहीं है। यदि मनुष्य कर ले तो उसे भी चेतन अंश की क्रिया-अनुसंधान कहा जा सकता है।

अध्यात्म की, परमात्मा की कल्पना अपने आप में एक महान शोध है। यह कल्पना नहीं बुद्धि का गणितीय निर्णय है, इसमें भले ही अंक प्रयुक्त न हुए हों। उसमें बुद्धि की दौड़ उससे भी बहुत अधिक उत्कृष्ट स्तर पर हुई है। अज्ञात की कल्पना न कर सकें, इसका यह अर्थ नहीं कि अज्ञात होता ही नहीं।

'दि मिस्टीरियस युनीवर्स' ग्रंथ के लेखक सर जेम्स जीन्स ने अत्यंत गंभीरतापूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि— "इस ब्रह्मांड का स्रष्टा कोई विशुद्ध गणितज्ञ रहा होगा। उसने न केवल मानव प्राणी की वरन अन्य सभी जड़-चेतन कहे जाने योग्य प्राणियों और पदार्थों की संरचना में गणित की उच्चस्तरीय विद्या का पूरी तरह प्रयोग किया है। यदि इसमें कहीं-कोई भूल रह जाती तो हर चीज बनने से पूर्व ही बिखर जाती। प्राणी जीवन धारण करने से पूर्व ही मर जाते और ग्रह-पिंड अपना पूर्ण रूप बनाने से पूर्व ही एकदूसरे के साथ टकराकर चूर-चूर हो जाते। यह स्रष्टा के गणित ज्ञान का चमत्कार ही है कि न केवल पृथ्वी वरन समस्त ब्रह्मांड एक क्रमबद्ध प्रक्रिया के साथ गतिशील है।"

न्यूटन की खोजें किसी समय अत्यंत सत्य मानी गई थीं, पर अब परिपुष्ट विज्ञान ने उन्हें क्षुद्र, असामयिक एवं व्यर्थ सिद्ध कर दिया है। गुरुत्वाकर्षण की खोज किसी समय एक अद्‌भुत उपलब्धि थी, अब आइंस्टीन का नवीनतम सिद्धांत प्रामाणिक माना गया है और गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत को बाल-विनोद ठहराया गया है। आइंस्टीन के अनुसार "देश, काल और एकीकरण—'स्पेश टाइम और काजेशन' एकीकरण सिद्धांत की एक वक्राकृति मात्र है। जिसे हम पृथ्वी का घुमाव मानते हैं, यह इस वक्रता के दो उपांशों का आनुपातिक संबंध भर है। इसी से पृथ्वी घूमती दीखती है और उसकी गतिशीलता की अनुभूति में एक कड़ी गुरुत्वाकर्षण की भी जुड़ जाती है। यह आकर्षण तथ्य नहीं वरन हलचलों की एक भोंड़ी सी अनुभूति मात्र है।"

कोई चित्रकार यदि अन्य किसी ग्रह पर बैठकर पृथ्वी का रंगीन चित्र बनाए तो वह रंग-बिरंगे दृश्यों का एक समतल दृश्य ही होगा। पूरा गोला इस तरह बनाया जाना असंभव है जो दोनों ओर की स्थिति को एक साथ दिखा सके। कल तक लंबाई-चौड़ाई बताने वाले चित्र ही तैयार होते थे, गहराई का आभास उनसे यत्किंचित ही होता था। अब 'थ्री डाइमेंशन' स्थिति देखने की भी सुविधा बन चली है और गहराई को देख सकना भी संभव हो गया है। आगे चित्रकला के विकास में कई और डाइमेंशन जुड़ेंगे, पर अभी तो वे संभव नहीं। इसलिए जो भी चित्र बने हैं, वे अधूरी दृश्य प्रक्रिया पर निर्भर हैं। अन्य ग्रह पर बैठकर बनाया गया पृथ्वी का चित्र यहाँ की हलचलों की सही जानकारी दे सके यह संभव नहीं। भले ही उस ग्रह के निवासी उस चित्र को कितना ही सर्वांगपूर्ण क्यों न मानें!

हमारे पूर्वज धरती को समतल मानते थे। पीछे पता चला कि वह गोल है। इसके बाद यह जाना गया कि वह घूमती भी है और परिक्रमा भी करती है। इसके उपरांत यह जाना गया कि वह अपने अधिष्ठाता के साथ, अन्य भाइयों के साथ किसी महासूर्य की परिक्रमा के लिए भी दौड़ी जा रही है और वह महासूर्य किसी अतिसूर्य की परिक्रमा में निरत है। अपने सौरमंडल जैसे अन्य कितने ही सौरमंडल उस महासूर्य सहित अतिसूर्य की प्रदक्षिणा में निरत हैं। मालूम नहीं यह महा, अति और अत्यंत अति का सिलसिला कहाँ जाकर समाप्त हो रहा होगा और पृथ्वी के भ्रमण की कितनी हलचलों का भाग्य उन अचिंत्य परिक्रमाओं के साथ जुड़ा होगा। कुछ दिन पूर्व यह भी पता लगा है कि पृथ्वी लहकती और थिरकती भी है। सीधे-साधे ढंग से अपनी धुरी पर घूमती भर नहीं हैं वरन वह कई प्रकार की कलाबाजियाँ भी दिखाती है। साँस लेती हुई फूलती और पिचकती भी है इससे उसकी भ्रमणशीलता में अंतर आता है तदनुसार गुरुत्वाकर्षण भी घटता-बढ़ता है।

विज्ञान अभी अपना बचपन भी पार नहीं कर पाया कि उसे अपने विषय की गहराई दिनोदिन अधिक दुरुह प्रतीत होती जा रही है। पिछले दिनों विज्ञान ने जो भी दावे छाती ठोक कर किए थे, उनमें से कितने ही दावे अब झूठे सिद्ध हो चुके हैं। इतना ही नहीं पदार्थ और प्रकृति का रहस्य समझ लेने वाला दावा भी अब मिथ्या सिद्ध हुआ है। पहले समझा जाता था कि पदार्थ स्थिर है, परंतु अब पता चला है कि एक कंकड़ में भी करोड़ों अरबों परमाणु अपने नाभिक के इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। घोषित किया गया है कि पदार्थ की सबसे छोटी इकाई इलेक्ट्रॉन है। इस सबसे छोटी इकाई का प्रत्यक्षीकरण अब तक किसी भी यंत्र से नहीं किया जा सका है, न उसकी निकट भविष्य में कोई संभावना ही बताई जाती है। वह मात्र एक परिकल्पना है जिसे 'रूपहीन' कहकर पिंड छुड़ाया गया है। इसकी गतिविधियाँ तो नोट कर ली गई हैं, पर वे क्यों होती हैं, इन हलचलों के लिए उन्हें प्रेरणा एवं क्षमता कहाँ से मिलती है, खरच होने वाली शक्ति की पूर्ति वे कहाँ से करती हैं, इसका कोई उत्तर प्राप्त नहीं किया जा सका। अणु विज्ञान के मूर्द्धन्य मनीषी आइंस्टीन और मैक्स प्लैक तक इस संबंध में चुप हैं और यह सोचते हैं कि भौतिक सत्ता के ऊपर कोई अभौतिक सत्ता छाई हुई है। यह अभौतिक सत्ता क्या हो सकती है और उसका उद्देश्य एवं क्रिया-कलाप क्या होना चाहिए? यह खोज पाना अभी विज्ञान के लिए बहुत आगे की बात है।

परमाणु परिवार से लेकर सौरमंडल और ब्रह्मांड संव्याप्त ग्रह पिंड परिकर के बारे में हम अभी इतना भी नहीं जानते जितना कि सारे शरीर की तुलना में एक बाल। हम केवल पंचतत्त्वों से बने हुए स्थूल पदार्थों के बारे में ही थोड़ी-बहुत जानकारी प्रयोगशालाओं के माध्यम से प्राप्त कर सके हैं। जीव सत्ता-मस्तिष्कीय संभावना अचेतन मन की अतीद्रिंय शक्ति के अगणित प्रमाण होते हुए भी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं हो सकी है। असंख्य क्षेत्रों की जानकारियाँ अभी प्रारंभिक अवस्था को भी पार नहीं कर सकी हैं। ऐसी दशा में

यदि ईश्वर जैसा अति सूक्ष्म तत्त्व प्रयोगशालाओं की पकड़ में नहीं आया तो यह नहीं कहा जाना चाहिए कि वह नहीं है। तत्त्वदर्शी दृष्टि से हम उसकी सत्ता, महत्ता और व्यवस्था सहज ही सर्वत्र बिखरी देख सकते हैं और उस पर श्रद्धा भरा विश्वास कर सकते हैं। यह विश्वास सुदृढ़ तर्कों एवं तथ्यों पर आधारित है। अत: इसे नकारा नहीं जा सकता। आस्था का बल मिलने पर तो सूक्ष्मदर्शी बुद्धि और प्रखर हो जाती है, आस्तिकता परक मान्यता दृढ़ हो जाती है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से वैज्ञानिक समुदाय में कुछ ऐसा ही परिवर्तन आया है जो कि एक शुभ चिन्ह माना जाना चाहिए।

जड़ एवं चेतन सबकी सामर्थ्य का उद्गम केंद्र परब्रह्म

पृथ्वी क्या है ? इसके उत्तर में रसायनशास्त्री उसका रासायनिक विश्लेषण करके इतना ही कह पाते हैं कि यह विभिन्न पदार्थ घटकों एवं तत्त्वों का समुच्चय मात्र हैं। बड़े ढेले की तरह वह भी इस विशाल ब्रह्मांड की एक नन्हीं सी इकाई भर बनकर अपना गुजारा कर रही है।

एक जीवविज्ञानी के लिए पृथ्वी की स्थिति अधिक जटिल और रहस्यपूर्ण है। पदार्थ और चेतन के समन्वय से बने हुए प्राणी दृष्टिगोचर तो असंख्यों होते हैं, पर यह विदित नहीं होता कि जीवन का उद्गम स्रोत क्या है ? धरती पर भरा हुआ पदार्थ जिन घटकों से बना है, उनमें हलचल भर है। उनमें जीवन का कोई लक्षण नहीं है। फिर यह जीवन है क्या? आता कहाँ से है ? पदार्थों के साथ क्यों जुड़ता-बिछुड़ता ? प्राणियों की सत्ता पदार्थ मूलक है या चेतना मूलक है ? ऐसे प्रश्नों की एक सुविस्तृत शृंखला है जिसके संबंध में चिरकाल से दार्शनिक माथापच्ची करते रहे हैं, किंतु अभी तक किसी निर्विवाद तथ्य तक पहुँच सकना संभव नहीं हुआ है।

विज्ञानियों का कहना कि पदार्थ ही अमुक परिस्थितियों में जीवन के रूप में विकसित हो जाता है। किंतु प्रयोगों से अभी तक इस मत की पुष्टि नहीं हुई। विशुद्ध पदार्थ से किसी प्राणी का सृजन संभव नहीं हो सका। चेतना का जहाँ पहले से ही अस्तित्व मौजूद है उसी को घटा-बढ़ाकर रूपांतरण संभव हो सका है। नए सिरे से एक भी जीवाणु की संरचना संभव नहीं हो सकी। प्रयोग क्षेत्र की इस निराशा से इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि चेतना एक स्वतंत्र सत्ता है। पदार्थ उसका उदाहरण है उद्‌गम नहीं।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जीवन यदि स्वतंत्र है तो उसका धरती पर अस्तित्व किस रूप में है? अध्यात्म दर्शन के समाधान अलग हैं। पदार्थविज्ञानी किसी प्रत्यक्ष तथ्य के बिना संतुष्ट नहीं हो सकते। उनका अनुमान है कि जीवन सूर्य का अनुदान है। जो पृथ्वी को अनुग्रहपूर्वक उपलब्ध हुआ है। दार्शनिक भी यही कहते हैं।

भूलोक के निवासियों को निर्वाह की ही नहीं चेतनात्मक उत्कर्ष के लिए भी उपयुक्त सुविधा उपलब्ध रहती है। जो चाहते हैं उसका समुचित लाभ उठाते हैं। उदासीनों, उपेक्षा करने वालों और अवमानना पर उतारू रहने वालों का तो अमृत भी भला नहीं कर सकता। सूर्य की सत्ता का मूल्यांकन करते हुए तत्त्वदर्शियों ने कहा है—"**त्वम् मानो जगतश्चक्षुः**" हे सूर्य आप ही इस संसार ने नेत्र हैं। "**त्वम् आत्मा सर्व देहिनाम्**" आप ही सब प्राणियों की आत्मा हैं। "**त्वम् योनिः सर्व भूतानाम्**" आप ही सब प्राणियों की काया हैं। "**त्वमा चारः क्रियावताम्**" आप ही पुरुषार्थियों के आचरण हैं। इन सूत्रों में सूर्य और प्राणियों के मध्य विद्यमान संबंध-सूत्र पर ऋषियों ने संक्षिप्त किंतु सारगर्भित प्रकाश डाला है।

जीवन है क्या? इसके उत्तर में तत्त्वदर्शन और विज्ञान एक प्रकार से सहमत जैसे दीखते हैं कि जीवन एक प्रकार का विशिष्ट विद्युत प्रवाह है जिसमें जड़ और चेतन की दोनों विशेषताएँ विद्यमान

हैं। इसकी परिकल्पना विचारशील चुंबकत्व के रूप में की गई है। अध्यात्म भाषा में इसी को प्राण कहा जाता रहा है। प्राण का चेतन पक्ष पदार्थ को अपने चुंबकत्व से प्रभावित करता है, उस पर अधिकार जमाता और उपयोग करता है। इतने पर भी उसकी निजी सत्ता मौलिक एवं स्वतंत्र है। वह पदार्थ के वशवर्ती नहीं है।

प्राण की विवेचना दार्शनिकों ने परब्रह्म की शक्ति प्रवाह के रूप में लगभग वैसी ही की है जैसी कि विज्ञानी पदार्थ की मूल सत्ता परमाणुओं के रूप में नहीं, तरंगों एवं कंपनों के रूप में मानते हैं। किंतु विज्ञानी प्रमाण के अभाव में किसी प्रतिपादन को मान्यता नहीं देते। उनका प्रत्यक्षवाद अब तक इतना ही जान सका है कि जीवन सूर्य से उतरता है और वह पदार्थ को चुंबकत्व के रूप में और जीवधारियों को संकल्प के रूप में उपलब्ध होता है। पदार्थों में हलचल और प्राणियों में संकल्प की गतिविधियाँ अलग-अलग हैं फिर भी उनके मध्य बहुत कुछ प्रवाह साम्य देखा जा सकता है।

जहाँ तक चुंबकत्व का संबंध है उसे कई दृष्टियों से पदार्थ जगत पर छाया हुआ विशिष्ट अनुशासन कह सकते हैं। धरती की भीतरी और बाहरी गतिविधियाँ उसी पर निर्भर हैं। अपनी धुरी पर घूमना—कक्षा में परिभ्रमण करना अनायास ही नहीं होता रहता। इसमें उसका वह चुंबकत्व ही कारण है जो भीतर से गति उभारता है और उसे अग्रगामी रहने के लिए आगे धकेलता है। पृथ्वी की सूर्य परिक्रमा और उसके परमाणुओं की अंतः संरचना में उसी स्तर की भ्रमणचर्या का चलना यह बताता है कि यह उसी चुंबकत्व की करतूत है। पृथ्वी के शक्ति प्रवाहों का पर्यवेक्षण करने पर जाना जाता है कि पृथ्वी एक विशाल चुंबक है। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव उसके मध्य केंद्र हैं। यह चुंबक ऊपरी परत पर ही छाया हुआ नहीं है वरन उसके अंतराल में भी भरा पड़ा है और जब भी उसे अवसर मिलता है ऊपर आकर अपने अस्तित्व का परिचय देता है।

पिछले दिनों जो ज्वालामुखी पृथ्वी पर फूटे और उनके लावे में निकले लोहे के कण बहकर जम गए हैं। उनमें चुंबक के वह गुण विद्यमान हैं जिनसे पृथ्वी के ६०००००००० वर्षों तक के चुंबकीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मारशैक अलेक्जैंडर ने अपनी पुस्तक में लिखा है—"भूतत्त्ववेत्ता जितना अधिक ज्ञात करते जाते हैं उनका यह विश्वास उतना ही पुष्ट होता जाता है कि पृथ्वी के अनेक रहस्यों का उत्तर चुंबकत्व में निहित प्रतीत होता है।"

काफी समय तक वैज्ञानिकों की यह धारणा रही है कि चुंबकत्व का केंद्र उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव हैं, किंतु पिछली शताब्दियों में जिन दिनों नौ सेना का तेजी से विकास हुआ समुद्रों में तैरने वाले जहाजों ने पाया कि पृथ्वी के विषुवत वृत्तीय क्षेत्र में जाने पर दिक्सूचक (कंपास) की सुई बिलकुल सीधी सिर के बल खड़ी हो जाती है। इस तथ्य की खोज ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी स्वयं में एक चुंबक है। उसके गर्भ में उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव को जोड़ती हुई एक ऐसी चुंबक धारा प्रवाहित होती रहती है जिस तरह मनुष्य में उत्तरी ध्रुव मस्तिष्क और दक्षिणी ध्रुव मूलाधार को सुषुम्ना शीर्षक का विद्युत चुंबकीय जीवन प्रवाह।

पिछले दिनों जब-जब पृथ्वी पर भयंकर चक्रवात या तूफान उमड़े, यह पाया गया कि उस समय पृथ्वी का चुंबकीय क्षेत्र बहुत बुरी तरह से अस्त-व्यस्त हुआ। उस स्थिति में न केवल मनुष्य अपितु जीव-जंतु तक बुरी तरह प्रभावित होते हैं। भूकंपों की सबसे अधिक अच्छी भविष्यवाणी उस क्षेत्र के पक्षियों तथा जीव-जंतुओं की हलचलों से मिलती है। भूकंप आने से पूर्व पक्षियों यहाँ तक कि सर्प जैसे जीवों का पलायन इस बात की पुष्टि करता है कि पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र की सूक्ष्म हलचलें जीवों के उस चुंबकीय क्षेत्र को जिससे चिंतन प्रादुर्भूत होता है, प्रभावित करती हैं। अतएव पृथ्वी में व्याप्त चुंबकत्व से जैव चुंबकत्व में कोई न कोई साम्य अवश्य होना चाहिए।

इस दिशा में भूगर्भशास्त्री गिलवर्ट और मैक्सवेल के प्रयोगों का जिक्र करते हुए डॉ० अलेक्जैंडर मारशैक ने अपनी पुस्तक 'पृथ्वी और अंतरिक्ष' के पृष्ठ १२१ में यह स्वीकार किया है कि पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र पर नित्य सूर्य के किसी अज्ञात विकिरण का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव जिस क्रम में घटता-बढ़ता है उसी क्रम में पृथ्वी के जीवन में भी हलके-भारी परिवर्तन होते हैं। अतएव कहना न होगा कि प्रत्यक्षत: मनुष्य की, जीवधारियों की अंतश्चेतना को भी सूर्य ही प्रभावित करता है।

सूर्य के सीधे अनुदान भी पृथ्वी को कम नहीं मिलते, पर उससे भी बड़ी उपलब्धि ब्रह्मांड किरणों की है। यह ब्रह्मांड किरणें यों अंतर्गृही ही मानी जाती हैं फिर भी उनका अनुदान पृथ्वी को सूर्य के माध्यम से ही मिलता है। बिजली उत्पादन केंद्र से ट्रांसफारमर और मीटरों में होती हुई चलने वाले उपकरणों तक पहुँचती है। इसी प्रकार ब्रह्मांडीय किरणें भी सीधी समस्त पृथ्वी पर अनियंत्रित रूप से बरसकर महाविनाश का खतरा उत्पन्न नहीं करती वरन क्रमिक गति से भूलोक पर अवतरित होती हैं। यह अवतरण सर्वप्रथम ध्रुवक्षेत्र में होता है और फिर वहाँ से आवश्यकतानुसार प्राणियों और पदार्थों के लिए वितरित होता रहता।

उत्तरी ध्रुव पर दृष्टिगोचर होने वाले मेरू प्रकाश को सूर्य का प्राण, अनुदान एवं ब्रह्मांडीय किरणों के उपयोगी अवतरण का प्रतीक-प्रतिनिधि कह सकते हैं। ब्रह्मांड किरणों और सूर्य अनुदानों का विशिष्ट पर्यवेक्षण करने पर पृथकता रहते हुए उनके भीतर अद्‌भुत साम्य पाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मांडीय किरणें धरती से संपर्क साधने से पूर्व सूर्य के सरोवर में स्नान कर लेती हैं और उसके रंग में रँगी हुई साड़ी पहनकर इस लोक में प्रवेश करती हैं। यदि वे निर्वस्त्र होकर बरसने लगें तो उस जुगुप्सा को सहन करना ही कठिन हो जाए।

मेरु प्रकाश ध्रुवों पर सर्वाधिक रहता है, पूर्वी ग्रीनलैंड का वह भाग जहाँ एस्किमो लोग रहते हैं, वहाँ का आकाश ही पृथ्वी के सामान्य आकाश से सर्वथा भिन्न है। वहाँ जाड़े के दिनों में प्राय: प्रतिदिन आकाश में रंग-बिरंगी दीप्तिवलियाँ देखते ही बनती हैं। दर्शक इस तरह आत्म विभोर हो उठते हैं मानो वह कोई स्वप्नों का स्वप्न हो। ऐसे मेरु प्रकाश भूमध्य सागर में भी जब-तब अनायास देखने को मिल जाते हैं। अलास्का, उत्तर कनाडा, एंटार्कटिका उत्तरी साइबेरिया तथा नार्वे में भी यदा-कदा देखने को मिलते हैं। वह दृश्य कितना विलक्षण होता है, उसका वर्णन करते हुए—रोमन इतिहासकार लिवी ने लिखा है—उस क्षण आकाश एकाएक करोड़ों अदृश्य अग्नि शिखाओं से दमकने लगा, लोग भयभीत हो उठे और आँख मूँदकर ईश्वर का भजन करने लगे। रोमन सम्राट तो यह समझा कि शहर में आग लग गई है, अतएव शीघ्र अग्नि शामक दस्ते भेज दिए। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने इस मेरु प्रकाश को देखकर लिखा था—'आकाश में विलक्षण आकृतियाँ, खाइयाँ और भीषण अंतराल, लाल-लाल रंग की दूर तक फैली चादर किसी इंद्रजाल से कम नहीं लगती थी।'

मेरु प्रकाश का जब-जब संपर्क स्थापित हुआ ऐसी मनोरम ध्वनियाँ सुनाई दीं जो अद्‌भुत थीं। उन्हें नक्षत्रीय ध्वनियाँ माना गया है, पर उनका अध्ययन सौर सक्रियता में ही अब तक संभव हो पाया है।

इस मेरु प्रकाश की संरचना के मूल में भी सूर्य ही है जिसके लिए सूर्य-संक्राति काल को अध्ययन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त पाया गया है।

मेरु प्रकाश अनेक प्रकार के होते हैं, प्रकाश की उदीप्ति, ज्वाला किरणों की चाप तथा पहियों जैसा कुछ दृश्य, कुछ अदृश्य और कहीं-कहीं उभयनिष्ठ अर्थात मरुस्थल की सी बनती-बिगड़ती झिलमिल। रंग बड़े विलक्षण एकदम सफेद जैसे आतिशबाजी सुर्ख

पीलापन लिए हरे, नीले, बैंगनी तथा भूरे रंग के भी। जिस समय यह अस्तित्व में आते हैं, पृथ्वी का चुंबकीय क्षेत्र पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो उठता है। उस समय वायुयानों के दिक्सूचक यंत्र काम करना बंद कर देते हैं ऐसी उड़ान को—'अंधी उड़ान' की संज्ञा दी गई है, वायुयान चालक उससे हमेशा सावधान रहते हैं।

वैज्ञानिकों ने व्याख्या की है कि यह अलौकिक संरचना सूर्य के अति सूक्ष्म उत्सर्जित कणों इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉनों की गति अनायास परिवर्तन का प्रतिफल है। सामान्य अवस्था में यह कण १००० मील प्रति घंटे की चाल चल सकते हैं जबकि असामान्य अवस्था में उनकी गति सूर्य प्रकाश की गति अर्थात १८६००० मील प्रति सेकेंड की गति से होती है। पृथ्वी की ओर चलते हुए वे अपने चुंबकीय गुणों के कारण ध्रुवों की ओर मुड़ते हैं, यह सामान्य प्रकाश की दिशा में हस्तक्षेप होता है, इसी कारण इस तरह के दृश्य दिखाई देने लगते हैं।

सूर्य द्वारा पृथ्वी पर बरसने वाले अनुदान का दृश्य रूप ध्रुवों का मेरु प्रकाश और अदृश्य रूप में बरसने वाला चुंबकत्व है। यह विभिन्न किरणों के रूप में धरती पर आता है और पदार्थों को विद्युत एवं प्राणियों को संकल्प का अनुदान देता है। इन अनुदानों का एक उदाहरण पराबैंगनी किरणों का है। वे ही प्राणियों के निर्वाह के लिए आवश्यक रसायन विटामिन डी० का उत्पादन करतीं तथा हानिकारक उत्पादन को निरस्त करने में लगी रहती हैं।

सूर्य के माध्यम से धरती को जो मिलता है भविष्य में मानव प्रयत्नों से उसमें घट-बढ़ हो सकेगी, ऐसी मान्यता है। जहाँ तक प्राण प्रवाह का संबंध है, वहाँ और भी बड़ी संभावनाएँ एवं आशाएँ विद्यमान हैं। ब्रह्मांडीय किरणें धरती को सीमित मात्रा में सीमित गति से प्राप्त होती हैं, पर यदि सूर्य को अनुकूल बनाया जा सके तो उसकी सिफारिश से विश्व-भंडार से इतने बड़े अनुदान मिल सकते हैं जिससे मनुष्य स्रष्टा का युवराज न रहकर स्थानापन्न भी बन सकता

है। सूर्य के प्रकाश को जितनी यात्रा पूरी करने में दो दिन लगते हैं उतनी यात्रा ब्रह्मांडीय किरणें दस मिनट में पूरी कर सकती हैं। इनकी अनुमानित गति १८६०००×१०००००००००० (दस अरब) इलेक्ट्रॉन वाल्ट मील प्रति सेकेंड की है। इस गति से चल सकना यदि किसी के लिए संभव हो तो वह समय की गति का अवरोध समाप्त कर सकता है और भूतकाल की परिस्थितियों के—उस समय के प्राणियों के साथ रह सकने का आनंद ले सकता है। ब्रह्मांड के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचने में उसे कुछ ही समय लगेगा। सूर्य आक्षांश पर प्राय: २७ दिन में एक बार इन किरणों का विशेष प्रभाव पड़ता है। उस दिन इस तारक को-पसीना छूटता और कँपकँपी आती है।

पृथ्वी के अस्तित्व का विश्लेषण करते हुए इस निर्जीव ढेले में पाई जाने वाली अगणित विशिष्टताओं का प्रधान आधार सूर्य ही सिद्ध होता है। सूर्य ही निमित्त है। उसे भी उपलब्ध ऊर्जा ब्रह्मांडीय किरणों से मिलती है। इतना जानने के बाद अंतिम निष्कर्ष तक पहुँचने का एक ही कदम शेष रह जाता है कि यह ब्रह्मांडीय किरणें आखिर क्या हैं? और कहाँ से आती हैं? इसका उत्तर देर-सबेर में यही स्वीकार करना है कि जिस तरह सूर्य की सप्त किरणें होती हैं और उसी प्रकार ब्रह्म की तंरगें ब्रह्मांडीय किरणों के रूप में न केवल धरती को—सूर्य को, वरन समस्त ब्रह्मांड का अस्तित्व बनाए रहने एवं अग्रगामी बनने के लिए अनुग्रहपूर्वक अभीष्ट सामर्थ्य प्रदान करती हैं। प्राण उन्हीं से बरसता है। स्वरूप और बल, ज्ञान और संवेदना उसी के अनुदान हैं।

पृथ्वी की सत्ता—सूर्य का अनुदान, ब्रह्मांडीय किरणों का वैभव समझ सकने वाले ब्रह्मसत्ता की महत्ता भी स्वीकार कर सकते हैं। शोध प्रयत्नों की सर्वोच्च स्थिति यही हो सकती है कि परब्रह्म से संबंध साधा जाए—उसका अनुग्रह पाया जाए और अपनी सत्ता को उसी महत्ता के अनुरूप बनाया जाए जैसी कि उन क्षमताओं के महान भांडागार-परब्रह्म परमेश्वर की है। □

अध्यात्म दर्शन की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

आत्मा है या नहीं? इसका उत्तर हाँ और ना में दोनों ही तरह दिया जा सकता है। हाँ, उनके लिए ठीक है जो ज्ञान के आधार पर सूक्ष्म विषयों पर विचार कर सकने और निष्कर्ष निकाल सकने में समर्थ हैं। ना, उनके लिए जो मात्र इंद्रियों के सहारे ही चेतन सत्ता का दर्शन करना चाहते हैं। चेतन सूक्ष्म है, वह चेतन सत्ता की ज्ञानानुभूति द्वारा समझा और देखा जा सकता है। किसी की आँखों में से आँसू बहते देखकर आँखें तो इतना ही बता सकती हैं कि भोंहों के नीचे वाले गड्ढों में से पानी की पतली सी धार बह रही है, उस पानी के पीछे कोई व्यथा-वेदना तो नहीं भरी है, यह जान सकना जीवित अंत:करण की भाव संवेदना के लिए ही संभव है। यदि वह न हो तो फिर आँसू और पसीने में वैज्ञानिक उपकरणों के सहारे कुछ अधिक अंतर नहीं पाया जा सकता। सूर्य की रोशनी और फूल की शोभा की अनुभूति उन्हीं को हो सकती है जिनकी आँखें सही हों, यदि दृष्टि समाप्त हो जाए तो अपने लिए संसार के सभी दृश्य समाप्त हो जाएँगे। भले ही वे अन्य लोगों के लिए यथावत बने रहें। दृश्य की अनुभूति में जितना महत्त्व पदार्थों के अस्तित्व का है उससे अधिक अपनी दृष्टि का है। यह ज्ञान ही है जो हमें दृश्य या श्रव्य के स्थूल रूप की तुलना में असंख्य गुने रहस्यमय मर्मों से हमें परिचित कराता है।

ज्ञान के दो पक्ष हैं—एक विचारणा दूसरा संवेदना। विचार मस्तिष्क की देन हैं, वे बाहर से आते हैं, प्रशिक्षण एवं अनुभव के सहारे। भाव भीतर से उठते हैं, वे अंत:करण के उत्पादन हैं।

विचारों से जानकारी तो बढ़ती है और बुद्धि में परिपक्वता आती है, पर उनका प्रभाव अंतस् पर नहीं के बराबर पड़ता है। बहुत पढ़ने और बहुत सुनने से भी आंतरिक उत्कृष्टता उभरने का कोई निश्चय नहीं। कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके कान सत्संग सुनते-सुनते पक गए और आँखें स्वाध्याय करते-करते थक गईं। फिर भी उनकी मूल वृत्तियों में कुछ विशेष अंतर नहीं आया। लोभ, मोह से उन्हीं रत्ती भर भी विरति नहीं हुई। काम, क्रोध के आवेश घट नहीं। धर्मोपदेशकों में धर्मधारणा और नेताओं में देशभक्ति प्रायः प्रसंग चर्चा की कलाकारिता जितनी ही दिखाई पड़ती है। दूसरों को जिन तर्कों वे प्रभावित कर लेते हैं उससे अपने आप को प्रभावित नहीं कर सकते। क्योंकि वे बाहर से आए आगंतुक हैं, अपने गृह सदस्य नहीं।

धर्म को संवेदना का उद्गम स्रोत कह सकते हैं। वह उपदेश नहीं उपचार है जिसके सहारे दिव्य चक्षुओं पर चढ़ी हुई धुंध को दूर किया जा सकता है। उस धुंध के हटने पर पदार्थ के अंतराल में संव्याप्त सत्ता को देखा जाता है। उसी के सहारे उस ब्रह्मांडव्यापी चेतना की अनुभूति होती है जिसे विश्वात्मा कहा जाता है और जिसका एक घटक आत्मा है। विचार से पदार्थ के गुण, धर्म, स्वभाव और उपयोग को जाना जाता है, धर्म से आत्मा का साक्षात्कार होता है और जीवन को आत्मा के अनुशासन में चलने के लिए प्रशिक्षित अभ्यस्त किया जाता है।

यह संवेदना ही अग्नि है। जब वह आदर्शों को अपनाए रहने की परिपक्वावस्था में होती हैं तो उसे श्रद्धा कहते हैं। अपने लिए कल्याणकारी कर्त्तव्य यही है। इसका सुनिश्चित निर्धारण विश्वास कहलाता है। श्रद्धा को भवानी की और विश्वास को शंकर की उपमा दी गई है और कहा गया है कि इन्हीं दोनों की सहायता से अंतरात्मा में ओत-प्रोत परमात्मा का दिव्य दर्शन होता है। आदर्शवादी संवेदनाओं की यह समूची परिधि धर्मक्षेत्र के नाम से जानी जाती

है। इसी की उमंगें कर्मक्षेत्र पर छाई रहती हैं। आस्थाओं की प्रेरणा से विचारतंत्र को दिशा मिलती है और विचारों की कर्म के रूप में परिणति होती है। इसी क्षेत्र में जब प्रखरता आती है तो अतीद्रिंय ज्ञान जाग्रत होता है और दूरदर्शन, दूर श्रवण, प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन, भावी संभावनाएँ जैसी वे जानकारियाँ मिलती हैं जो सामान्य इंद्रिय क्षमता की पकड़ से बाहर हैं।

धर्म को भीतर से जोड़ा जाता है, जीवन संघर्ष से कतराने वाले धर्माडंबरों में उलझे रहते हैं, यह कहा जाता है, पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। यह साहसी शूरवीरों का मार्ग है। मन और अंतःकरण का संघर्ष स्पष्ट है। मन सुविधाओं में रमता है और अंतःकरण को वे भाव संवेदनाएँ चाहिए जो उत्कृष्टता अपनाने के मूल पर ही उपलब्ध होती हैं। लोक प्रवाह और अपने संचित संस्कार मनोकामनाओं की पूर्ति की दिशा में खींचते और मनमानी करने के लिए उकसाते हैं, इसके ठीक विपरीत वह क्षेत्र है जिसे आत्मा की पुकार कहते हैं। यहाँ सब कुछ दूसरे ही तरह का है। यहाँ वैभव बेचकर संतोष खरीदा जाता है। इतना बड़ा सौदा करना जुआरी द्वारा अपना सर्वस्व ऐसी बाजी पर लगा देने जैसा है जिसमें प्रत्यक्ष घाटा ही घाटा है, ऐसा बड़ा कदम उठाना सती-शूरमाओं जैसा दुस्साहस है जिसमें प्रत्यक्ष का उत्सर्ग करके परोक्ष के उपलब्ध होने का सुनिश्चित विश्वास आवेश की तरह अंतराल के कण-कण में छाया होता है। ऐसी स्थिति प्राप्त करने में केवल साहसी शूरवीर ही सफल होते हैं। भावनाओं के परिपोषण में कामनाओं की बलि चढ़ा देना जिनसे बन पड़ता है वस्तुतः वे ही धर्मात्मा हैं। कहा जाता है कि धार्मिकता स्वर्ग के लालचियों और नरक से भयभीत लोगों को छिपाए रहने वाली माँद भर है, पर बात ऐसी है नहीं। कुछ उथले धर्माडंबरियों या धर्मभीरुओं के लिए यह बात भले ही लागू होती हो, पर वस्तुतः धर्म एक सत्साहस और प्रबल पुरुषार्थ है, जिसमें अंतरात्मा को सर्वोपरि माना जाता है और उत्कृष्टता भरी भाव-

संवेदनाओं के समर्थन की सुख-सुविधाओं से लेकर स्वजनों को रुष्ट करने तक का ऐसा साहस प्रदर्शित किया जाता है जिसे अलौकिक एवं असाधारण कहा जा सके।

अध्यात्म ही मानवीय जीवन को संस्कारित करेगा

हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं विज्ञान दर्शन का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। विज्ञान मात्र प्रकृति के कुछ रहस्यों पर से परदा उठाता है, किंतु दर्शन विश्वचेतना के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालता है। बताता है कि चिंतन की धाराएँ किस प्रकार परिष्कृत की जा सकती हैं? प्रकृति की क्षमताएँ उपयोग में लाकर अनेक सुविधाएँ पाई जा सकती हैं। पर उन सुविधाओं का समुचित उपभोग करने के लिए मनुष्य की चिंतन प्रक्रिया का आधार क्या हो यह बताना दर्शन का काम है। दर्शन वृक्ष है और विज्ञान उसकी एक टहनी। विज्ञानवेत्ता की तुलना में दार्शनिक का कार्यक्षेत्र और उत्तरदायित्व अति विस्तृत है।

जीवन का यदि कोई दर्शन न हो, उसके साथ कुछ आस्थाएँ, मान्यताएँ जुड़ी न हों, किन्हीं सिद्धांतों का समावेश न हो तो आदमी, आदमी न रहकर एक प्राणिमात्र रह जाता है। गुजारे भर का लक्ष्य लेकर चलने वाले अपनी योग्यता और तत्परता के अनुसार सुविधा-साधन तो न्यूनाधिक मात्रा में उपार्जित कर लेते हैं किंतु कोई ऊँचा लक्ष्य सामने न रहने पर अंतरात्मा में जीवंत उत्साह नहीं सँजो पाते। यों सामान्य उत्साह तो भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं की आतुर लालसा से भी उत्पन्न हो सकता है, पर उसके नैतिक बने रहने में संदेह ही बना रहेगा। भौतिक लाभों की अपेक्षा यदि किन्हीं आदर्श की पूर्ति को लक्ष्य बनाकर चला जाए तो उत्साह भरी सक्रियता के अतिरिक्त उसके साथ उत्कृष्टतावादी तत्त्व भी जुड़ रहेंगे और उन प्रयासों से आत्मिक उन्नति का लाभ होता रहेगा, भले ही भौतिक लाभ उतना न हो। लोकहित की ऐसी महत्त्वाकांक्षाएँ जिनमें अपने पुरुषार्थ का प्रकटीकरण ही नहीं आदर्शवादी होने का भी परिचय

मिलता हो, निश्चित रूप से उस महत्त्वाकांक्षी के व्यक्तित्व को सम्मानास्पद बनाती हैं। इस उपलब्धि के सहारे मनुष्य उस स्थिति में पहुँच जाता है जिसमें जनसहयोग के सहारे वैसा कुछ प्राप्त किया जा सके जो धन संपदा से भी अधिक मूल्यवान है।

मानवी प्रकृति की व्याख्या करते हुए हमें उसके दृष्टिकोण और चरित्र के स्तर का भी मूल्यांकन करना चाहिए। भौतिक दृष्टि से सुखी-संपन्न बन जाने पर भी यदि मनुष्य उद्देश्यविहीन और आदर्शरहित बना रहे तो वह अपने लिए संतोष एवं गौरव प्राप्त नहीं कर सकेगा। समाज में उसे न तो उपयोगी माना जाएगा और न उसे सम्मान दिया जाएगा।

नोबुल पुरस्कार विजेता फ्रांसीसी वैज्ञानिक अलोक्सिस करेल ने कहा है—"हम बहुत कुछ खोज चुके और अगले दिनों इससे भी अधिक रहस्यपूर्ण प्रकृति गत रहस्यों को खोजने जा रहे हैं, किंतु अभी भी 'मनुष्य' पहले की तरह ही अविज्ञात बना हुआ है। सच तो यह है कि वह इस प्रकार खोता चला जा रहा है कि अगले दिनों उसे खोज निकालना कठिन हो जाएगा। मनुष्य की ज्ञान-संपदा आश्चर्यजनक गति से बढ़ी है, पर अपने संबंध में वह अभी भी असीम अज्ञान से जकड़ा हुआ है।"

समस्त जड़-चेतन पर उच्चस्तरीय सत्ता का अनुशासन

दार्शनिक स्पिनोजा कहते थे—"तथ्यों तक पहुँचने के लिए तर्क ही एकमात्र आधार नहीं है। उसके अतिरिक्त भी अन्य माध्यम हैं, जिनके आधार पर मनुष्य की गरिमा टिकी हुई है। अंत:प्रेरणाओं और आत्मानुभूतियों की सत्ता ऐसी ही है जो आमतौर से तर्कों का समर्थन नहीं करती अथवा जिनका समर्थन तर्क से नहीं किया जा सकता।"

मनुष्य और मनुष्य के बीच पाई जाने वाली उदार आत्मीयता, मैत्री, सहानुभूति एवं सेवा-सहकारिता को एक सीमा तक ही तर्कसंगत

ठहराया जा सकता है। उस सीमा तक जहाँ आदान-प्रदान में लाभदायक परिणाम की आशा-अपेक्षा की जाती है। जहाँ इस कसौटी पर मैत्री खोटी सिद्ध होती है, वहाँ तर्क तुरंत पीछे हटने या उपेक्षा बरतने का सुझाव देता है। तर्कबुद्धि पर निर्धारित है और बुद्धि भौतिक स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करती है। दीन-दुखियों की सेवा-सहायता करने में जो समय, श्रम एवं मनोयोग लगता है उसे तर्कसंगत नहीं ठहराया जा सकता। भावनाएँ तर्क से ऊपर हैं उन्हीं के दबाव से परमार्थ की बात सोची जा सकती है और उसे चरितार्थ करने को हिम्मत जुटाई जा सकती है।

जिस तर्क के आधार पर बूढ़े बैल को कसाई के हाथ बेचकर चारे और जगह की बचत की जाती है उसी आधार पर घर के वयोवृद्धों को मौत के घाट उतारा जाना चाहिए। यदि वे जीवित हैं और अशक्त होते हुए भी सेवा, सम्मान का लाभ लेते हैं तो यह तर्क का अनुग्रह नहीं भावनाओं की अनुकंपा है।

दार्शनिक किर्केगार्ड कहते थे—"तर्क से न आत्मा सिद्ध होती है और न परमात्मा का अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता है, इतने पर भी उन्हें स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं हैं। क्योंकि अंतराल की गहराई में जमी हुई आस्थाएँ उसकी सत्ता को सदा स्वीकार करती हैं। गलत काम करने पर भीतर से कोई प्रेरणा ऐसी उठती है कि लाभ दीखते हुए भी उसे नहीं किया जाना चाहिए। इस संबंध में तर्क से कोई सहायता नहीं मिल सकती। स्वार्थ के लिए जब अन्य प्राणी बिना उचित-अनुचित के झंझट में पड़े, कुछ भी कहते रहते हैं तो मनुष्य ही उसका अपवाद क्यों होना चाहिए? उसी को गलत कामों के करते हुए अंतर्द्वंद्व क्यों उठना चाहिए? इससे प्रतीत होता है कि भाव-संवेदनाओं की अपनी सत्ता है और वे तर्कसंगत न होते हुए भी अपना काम करती और प्रभाव दिखाती हैं।"

बच्चों को पालने में कष्ट उठाने और उन्हें दुलार देने का तर्कसंगत कोई आधार नहीं। जिनसे प्रतिदान न मिले उनकी क्यों

सेवा-सहायता की जाए? प्रेम के बदले प्रेम की बात तो समझी जा सकती है पर जिस नवजात शिशु में अभी भावना का विकास तक नहीं हुआ है, उससे प्रतिदान की आशा कैसे रखी जाए? बड़ी होने पर लड़कियाँ ससुराल चली जाती हैं और लड़कों में से भी अधिकांश घाटे के सौदे सिद्ध होते हैं, यह सब कुछ जानते हुए अभिभावकों द्वारा विशेषतया माता द्वारा उन्हें जो उदार स्नेह सहयोग मिलता है, उसके पीछे कोई बुद्धिसंगत तर्क प्रस्तुत कर सकना कठिन है।

विवाह के पक्ष में पुरुषों के पास तर्क हो सकते हैं। उन्हें पत्नी से कई प्रकार के लाभ सस्ते मोल में मिलते हैं। किंतु पत्नी को तो हर दृष्टि से घाटा ही घाटा है। उसे देना अधिक पड़ता है और मिलता कम है। ऐसी दशा में वह क्यों विवाह बंधन स्वीकार करे? यही बात गर्भधारण के संबंध में भी है। प्रजनन कर्म में नारी को हर दृष्टि से घाटा ही घाटा है। फिर वह उसे क्यों स्वीकार करे? यहाँ तर्क मौन हो जाता है और भावनाएँ अपनी सामर्थ्य का परिचय देती हैं। दांपत्य जीवन अपनाने और गर्भधारण करने में नारी को उत्साह ही रहता है और संतोष भी। जबकि तर्क की दृष्टि से उसे इन दोनों ही जिम्मेदारियों से बचकर चैन से रहना चाहिए।

देशभक्ति, परमार्थ, धर्मधारणा, तपश्चर्या, संयम, दान, सेवा जैसे उत्कृष्ट आदर्शों का समर्थन तर्क नहीं भावनाओं द्वारा ही होता है। त्याग, बलिदान की उमंगें तर्कसंगत नहीं ठहरतीं। उन्हें उस मार्ग पर बुद्धिवादी नहीं भावनाशील ही बढ़ाते हैं। दूरदर्शिता अपनाने वाला विवेक तर्कों को तोड़ता है। उसे उदात्त आस्था और भाव श्रद्धा का ही समर्थन मिलता है। यह समर्थन कभी-कभी इतना प्रबल होता है कि सदुद्देश्यों के लिए कई बार लोग बड़े से बड़े यहाँ तक कि सर्वस्वदान, प्राणहुति तक देते पाए जाते हैं। इस प्रकार की साहसिकता में तर्क तो प्रायः असमहत ही रहते हैं।

अरस्तु अपने शिष्यों से कहा करते थे—"तुम देख सकते हो कि सज्जनों की तुलना में दुष्ट नफे में रहते और मौज उड़ाते हैं। इतने पर

भी सज्जनता मरती नहीं। लोग घाटे में रहकर भी उसे अपनाए रहते हैं। ऐसा क्यों? इसका उत्तर एक ही है आत्मा के प्रतिपादन इतने प्रबल होते हैं कि तर्कों और प्रमाणों को अस्वीकृत करते हुए भी घाटा सहने पर आरूढ़ बने रहें। यह मनुष्य की उन आस्थाओं का प्रभाव है जिन्हें आत्मा का आधारभूत गुण कह सकते हैं।''

कांट ने आत्मा की अमरता का एक प्रमाण यह प्रस्तुत किया है—''लोग मरते समय तक अपना प्रयास पुरुषार्थ नहीं छोड़ते। जबकि जीवन का अंत समय देखकर उन्हें बचे हुए समय में मौज के दिन गुजारने तथा झंझटों से दूर रहने की बात सोचनी चाहिए थी। होता इसके ठीक विपरीत है, अंतिम दिनों आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कामों को अधिक तत्परता से करने और जल्दी निपटाने की बात ध्यान में बनी रहती है। इसका कारण अंत:करण की वह आस्था है जिसमें उसे जीवनक्रम भविष्य में भी चलते रहने का अटूट विश्वास होता है। यदि मरण के साथ अंत निश्चित होता तो लोग निराश पाए जाते और संग्रह के स्थान पर बरबादी की बात सोचते।''

'क्रिटिक ऑफ प्रेक्टिकल रीजन' के अनुसार विश्व का प्रत्येक घटक सुनियोजित ढंग से बना है। उसके पीछे पूर्ण परसंगतियाँ हैं और अस्तित्व की रक्षा से लेकर प्रगति करने एवं अनुपयुक्त परिस्थितियाँ आने पर तदनुरूप ढलने की समस्त संभावनाएँ विद्यमान हैं। हर चीज सुंदर डिजाइन और उपयुक्त साधन-सामग्री से बनी है, ऐसा न तो अपने आप हो सकता है और न अपने आप अनगढ़ रूप से संयोगवश वैसा हो सकता है। जड़ पदार्थ भावना या बुद्धियुक्त हैं या नहीं इस संबंध में असमंजस हो सकता है, पर इसमें संदेह नहीं कि उन्हें बनाया विवेकवान, दूरदर्शी एवं अपने विषय की प्रवीण पारंगत सत्ता ने ही है। भले ही उसका नाम ईश्वर रखा जाए अथवा कुछ और।

कांट के 'क्रिटिक आफ जजमेन्ट' ग्रंथ में अपनाई गई दार्शनिकता ने सिद्ध किया है तर्क से जो बातें सिद्ध न हो सकें उन्हें अप्रामाणिक मान बैठना भूल है। तर्कक्षमता मनुष्य की बौद्धिक क्षमता के अनुसार

बढ़ती और बदलती चली आई है। प्रगतिपथ पर चलते हुए मनुष्य ने अपनी मान्यताओं और दलीलों में आश्चर्यजनक परिवर्तन किए हैं। जो बातें कभी नितांत सत्य समझी जाती थीं उन्हीं को पीछे नए तथ्यों ने अमान्य ठहरा दिया। इसका कारण यह था कि जिन प्रमाणों को आधार मानकर तर्क ने अपनी दिशा अपनाई थी, वे जब नए प्रतिपादनों ने अमान्य ठहरा दिए तो तार्किकों को भी मैदान छोड़कर भागना और नया रास्ता अपनाना पड़ा। ऐसी दशा में तर्कों और उसके समर्थक तथ्यों पर भी उतना ही संदेह करने की गुंजाइश है जितना कि ईश्वर और आत्मा के संबंध में किया जाता है।

ह्वाइट हेड ने लिखा है—"यदि कल्पना के आधार पर चेतना को जड़ ठहराया जा रहा है तो ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि उसी आधार पर जड़ में चेतन को ओत-प्रोत माना जाए। जब हर पदार्थ के अंतराल और बाह्य क्षेत्र में सुनियोजित हलचलें चल रही हैं और उनमें से प्रत्येक घटक को एक कठोर अनुशासन के अंतर्गत अपना निर्वाह करना पड़ रहा है तो इस चेतना की सत्ता को मानने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए?"

धर्म का आधार तर्क नहीं नैतिकता है। नैतिकता आत्मा की मूलभूत प्रवृत्ति है। उसे सिद्ध करने के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं। सच तो यह है कि तर्कों को इस आधार पर मान्यता मिलेगी कि वे नीति समर्थक हैं या नहीं। चोरी या छल करने में कितनी ही दलीलें क्यों न दी जाएँ? समर्थ लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए कितने ही हतप्रभ करने वाले कारण क्यों न प्रस्तुत करते रहें, वे मान्यता प्राप्त न कर सकेंगे। अनाचारी लोग अपनी गतिविधियों का औचित्य बताने के लिए बहुत कुछ कहते हैं। फिर भी उन्हें सुनने और कहने वाले उस प्रतिपादन को 'तर्क के लिए तर्क' मानते और अस्वीकृत करते रहते हैं।

माता और पुत्रों से विवाह उन समाजों में भी प्रचलित नहीं है जिन्हें नितांत अनगढ़ और आदिम सभ्यता के अनुचर कहा जाता है।

नीति मर्यादाओं को काटने के लिए इतने तर्क दिए जा सकते हैं कि पूरे सामाजिक ढाँचे और सभ्यता प्रचलन को अस्वीकृत किया जा सके। अनास्थावादियों का अपना संप्रदाय है। फिर भी उनमें कुछ मर्यादाएँ बनी ही रहती हैं। कोई चाहे तो यह पूछ सकता है कि जब पूर्व प्रचलन अस्वीकृत किए गए तो नए नियमों को क्यों अपनाया गया? बात फिर घूमकर वहाँ आ जाती है, जहाँ उपयोगिता और आवश्यकता से भी बढ़कर नैतिकता के कुछ आदर्शवादी नियमों को मान्यता देनी पड़ती है। यही है तर्क की तुलना में नीति की वरिष्ठता जिसे सहज ही झुठलाया नहीं जा सकता।

स्पिनोजा का वह प्रतिपादन सारगर्भित है जिसमें वे कहते हैं कि जो कुछ भी दृष्टव्य और अनुभवगम्य है उसमें से प्रत्येक इकाई अपने आप में एक एवं समग्र है। इतना ही नहीं वह किसी समर्थ केंद्र के साथ बँधी है, बँधी का तात्पर्य है सामर्थ्य पाना और अनुशासन मानना, वृहदाकार ग्रहपिंडों से लेकर अणु-परमाणुओं तक में यही क्रम समान रूप से चलता है। प्राणियों की काया भी इसी नियम के अंतर्गत जीवनयापन करती है। अपने इस प्रतिपादन के पक्ष में स्पिनोजा अनेकानेक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं "इस पूर्णता, सूत्रबद्धता, सुव्यवस्था का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उससे कहीं-कोई भी बचा हुआ नहीं है। इस अनुशासन को ईश्वर न सही कुछ और कहा जाए, पर वह है अवश्य, इस प्रकार हम पाते हैं कि हर दार्शनिक, वैज्ञानिक विभिन्न सिद्धांतों के आधार पर आस्तिकता को ही प्रधानता देते आए हैं।"

प्रसिद्ध विद्वान व्हाइट का कहना है कि ईश्वर विश्वास इसलिए आवश्यक है कि मनुष्य इस विश्वास का अवलंबन लेकर अपनी भीतरी सफाई करता है। दुष्प्रवृत्तियाँ छोड़ता, सद्गुण अपनाता तथा नीतिवान बनता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार किसी सुप्रीम सत्ता में विश्वास करने से आंतरिक विकास की प्रक्रिया आरंभ होती है और अंततः ऐसा

धार्मिक व्यक्ति संपूर्ण नैतिक गुणों का पुंज बन जाता है। सच तो यह है कि नीतिशास्त्र का वास्तविक उद्देश्य धर्मावलंबन से पूरा हो जाता है। अनैतिकता का मूल कारण मनुष्य की स्वार्थ वृत्ति है। जब तक संकीर्ण स्वार्थों में मनुष्य बँधा रहेगा, तब तक अनैतिकता को बढ़ावा मिलेगा। आत्मविस्तार की प्रक्रिया धर्मावलंबन से आरंभ होने से मनुष्य संकीर्णता की परिधि से ऊपर उठ जाता है और मानव मात्र को अपना मानने लगता है। इस तरह धर्म वही प्रयोजन पूरा करता है जो नीतिशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार मनुष्य को चरित्रवान, नीतिवान बनाना हो तो नीतिशास्त्र को अपने भीतर उन धार्मिक तत्त्वों को भी समाहित करना होगा जो मानवी हृदय को छूते हैं, क्योंकि नीतिशास्त्र के सिद्धांत उपयोगी होते हुए भी वे मस्तिष्क को ही मात्र छूकर रह जाते हैं, जबकि परिवर्तन का केंद्रबिंदु मनुष्य का हृदय है। नीतिशास्त्र के सिद्धांत तर्क पर आधारित हैं। तर्क उच्छृंखल भी हो सकता है। धर्म को अपनाने—ईश्वर को अपनाने पर तर्क की यह उच्छृंखलता समाप्त हो जाती है। तर्क का स्थान विवेक ले लेता है जो श्रद्धा एवं तर्क का समन्वित रूप होता है और तब मनुष्य बुद्धि से नहीं हृदय से परिचालित होता।

नीतिशास्त्र का वैचारिक मंथन वस्तुतः नैतिकता का उद्गम नहीं हो सकता। नीतिशास्त्र विकास के लिए श्रेष्ठता सिद्धांतों का समुच्चय है जिसकी आचार संहिता धर्म में समाविष्ट है। नैतिकता व्यवहार में तभी उतर सकती है जब आत्माकुंश एवं स्वनिर्माण के ऐसे आधार प्रस्तुत करे जिसको मनुष्य स्वतः अपनाने के लिए तैयार हो जाए। यह आकार नीतिशास्त्र नहीं धर्म ही दे सकता है।''

'कांट' का कहना है कि ईश्वर को मानना एवं उसका अवलंबन लेना इसलिए भी आवश्यक है कि उसके बिना मनुष्य को नैतिक नहीं बनाया जा सकता है। वह समस्त नैतिक विशेषताओं एवं उच्चस्तरीय आदर्शों का पुंज है, इस विश्वास के आधार पर अवलंबनकर्ता भी क्रमशः वैसा ही बनता जाता है। हम ऐसे उदाहरण

अपने दैनिक जीवन में भी देखते हैं कि धर्म को व्यवहार में अपनाने वाला नैतिक दृष्टि से सामान्य व्यक्तियों की तुलना में कहीं अधिक आगे होता है। व्यक्तिगत सुख-शांति एवं संतोष के क्षेत्र में भी अन्यों की अपेक्षा अधिक बढ़ा-चढ़ा होता है।

"ऐसी कोई अदृश्य सत्ता अवश्य है जो नीति एवं अनीति के परिणामों का सुसंचालन करती, नीतिपरायणों को सुख, शांति देती तथा अनीति पर चलने वालों को दंड प्रदान करती है।"

विलियम पैटर्न अपनी पुस्तक 'दी ग्रेट स्टैटेजी ऑफ इवॉल्यूशन' में लिखते हैं—"ईश्वर विश्वास स्वयं में एक सृजनात्मक एवं रचनात्मक शक्ति है जो सदा सहयोग तथा पारस्परिक सेवा के फूल चुनती रहती है। मनुष्य स्वयं विकसित होता, नीतिपरायण बनता तथा दूसरों को वैसा ही अनुकरण करने की प्रेरणा देता है। इस तरह व्यक्ति और समाज दोनों का ही विकास होता है।"

'एडविन ग्रांड 'ह्यूमन इवाल्यूशन' ग्रंथ में उपरोक्त तथ्य को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"उस महान सत्ता पर विश्वास एवं आरंभ होने वाली आत्मविकास एवं सामाजिक विकास की प्रक्रिया में क्रमशः सहयोग, सेवा, उदारता एवं चरित्र-निष्ठा के मानवी एवं नैतिक तत्त्व अधिकाधिक उभरते चले जाते हैं।"

नीति एवं दर्शनशास्त्र के प्रख्यात विद्वान ड्यूरेंट ड्रक अपने ग्रंथ 'इन्विटेशन टू फिलासफी' में लिखते हैं—"सामान्य व्यक्ति के लिए ईश्वर जगत का निर्माता, पोषक तथा संहारक बनकर सद्मार्ग अपनाने एवं सदाचरण की प्रेरणा देता है। असामान्य व्यक्ति उस सत्ता को श्रेष्ठ सिद्धांतों एवं आदर्शों के पुंज के रूप में देखता है और उसी के अनुरूप ढलने को बाध्य करता है।" वे आगे कहते हैं—"हमें विश्व में एकता समता की—सुख, शांति एवं आनंद की—निर्झरिणी प्रवाहित करनी है तो उसके मूलभूत स्रोत एवं श्रेष्ठतम मानवी आदर्शों के प्रतीक ईश्वर को अपनाना होगा।"

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखा जाए तो हर व्यक्ति चाहता है कि कोई उसका एक ऐसा संरक्षक हो जो समर्थ हो तथा आपत्तिकाल में उसका सहयोग करे। ऐसी समर्थ सत्ता ईश्वर ही हो सकती है जो मनुष्य को हर समय अपना सूक्ष्म संरक्षण दे सके। वाल्टेयर ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर, एक बार कहा था—"यदि ईश्वर नहीं है तो हमें उसकी सर्जना करनी होगी क्योंकि ईश्वर के बिना अधिकांश लोगों का जीवन तुच्छ, असहाय एवं दु:खपूर्ण है।"

कार्लजुंग के अनुसार धर्म के अवलंबन से मनुष्य उसी प्रकार शांति की अनुभूति करता है जिस तरह बच्चा माँ की गोद में पहुँचने के बाद अनुभव करता है। व्यक्ति जब अपने को निस्सहाय महसूस करता है तो ऐसे अवसरों पर किसी सर्व समर्थ पिता पर विश्वास कर ही वह शांति अनुभव करता है।

मनोविज्ञानवेत्ता कार्लजुंग की मान्यता है—"धर्म की सहायता एवं किसी सर्व समर्थसत्ता के अवलंबन से व्यक्ति जीवन के कालुष्य को लील सकता है।" शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य स्थिर बनाए रखने से लेकर मनुष्य को श्रेष्ठ महान बनाने के सारे आधार अध्यात्म में विद्यमान हैं।"

बर्कले ने एक जगह कहा है—"दर्शन और विज्ञान सिर्फ इतना कहते हैं ईश्वर और आत्मा को सिद्ध करने के लिए हमारे पास उपयुक्त प्रमाणों का अभाव है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसे अमान्य ठहरा दिया गया या कोई तार्किक विरोध खड़ा किया गया है। विरोध करने जैसा किसी तार्किक या विज्ञानी के पास कुछ भी नहीं है।"

ऐसी दशा में यह भी कहा जा सकता है—"तार्किक दृष्टि से जो असंभव नहीं है, उसकी सत्ता हो सकती है। यह केवल असमंजस का प्रकटीकरण है। अस्वीकरण या विरोध नहीं।"

विकास की मान्यता है—"भौतिकी में जो वस्तु" क्रिया-शक्ति है। वही जीवित प्राणियों में भावनात्मक प्रबलता। वही अपने-

अपने क्षेत्रों में क्रमिक विकास की लंबी मंजिल पर चलते हुए आज की स्थिति तक पहुँची है।

इसी प्रतिपादन की दूसरी तरह भी व्याख्या हो सकती है कि किसी विकासशील प्रेरणा ने पदार्थों और प्राणियों को आगे बढ़ने की प्रेरणा और परिस्थितियाँ प्रदान की हैं। विकासवाद के वर्तमान प्रतिपादनों की प्रचलित नास्तिकतावादी व्याख्या ही मान्यता प्राप्त करे यह आवश्यक नहीं।

अब उस तथ्य को अधिक अच्छी तरह समझ और स्वीकारा जा रहा है जिसके अनुसार इस सृष्टि के समस्त परिकर परस्पर सघन बनकर रह रहे हैं और सुसंबद्ध रूप से पूरक बने हुए हैं। 'इकालॉजी' के हर क्षेत्र में पारस्परिक तारतम्य और तालमेल पाया गया है। इस विश्वब्रह्मांड के सभी घटक अपने सजातियों के साथ तो आदान-प्रदान रखते ही हैं। विजातियों के साथ भी लेने देने का क्रम चलाते और अस्तित्व रक्षा से लेकर विश्व व्यवस्था में योगदान करते हैं।'

तर्क से आत्मा, परमात्मा, नीतिमत्ता और उत्कृष्टता का कहाँ तक समर्थन होता है, इसमें अभी भी असमंजस है। पर अब यह प्रतिपादन असंदिग्ध बनता जा रहा है कि तर्क और तथ्यों से भी ऊपर एक उच्चस्तरीय विधान एवं अनुशासन की सत्ता है। किसी मनीषी ने ठीक ही कहा है कि संसार में विद्वानों की संख्या बढ़ती देखकर तो प्रसन्नता होती है, पर खेद यही है कि 'ज्ञानी' तेजी से समाप्त होते चले जा रहे हैं। विद्वान और ज्ञानी का अंतर बताते हुए चीनी दार्शनिक लाओत्से कहते थे—"जो अपने को जानता है वह ज्ञानी और जो दूसरों को जानता है वह विद्वान है। अपने संबंध में बढ़ता हुआ अनाड़ीपन ही मनुष्य को जटिल उलझनों में और समाज को कठिन समस्याओं में जकड़ता चला जा रहा है।"

'मैन दी अननोन' ग्रंथ के लेखक विज्ञानी अलेक्सिन कैटेल ने लिखा है—"मानवी काया का रासायनिक विश्लेषण सरल है। अवयवों की हरकतें समझने में भी सफलता मिली है। सोचने का तंत्र मस्तिष्क

किधर चलता और किस तरह करवटें बदलता है, इसका पता भी लगता जा रहा है, किंतु उसकी मूल सत्ता में विद्यमान 'मानव' की खोज-खबर लेने वाले धनाधोरी दृष्टिगोचर नहीं होते। सभ्यता और संपत्ति का विकास हो रहा है, पर मनुष्य का पिछड़ापन बरकरार है। आदमी ने दुनिया को अपने योग्य बनाया पर वह अपने लिए 'पराया' बन गया है। सूनेपन का दबाव बढ़ रहा है और भीड़ से अलग होकर जब वह देखता है तो लगता है कि न वह किसी का है और न कोई उसका। यह अपने आपे की क्षति इतनी बड़ी है जिसकी पूर्ति कदाचित प्रगति के तथा कथित समीकरण मिलकर पूरी नहीं कर सकेंगे।

मनुष्य के खंड-खंड का चिंतन विश्लेषण चल रहा है। उसके अस्तित्व के एक-एक भाग को समग्र शास्त्र का रूप दिया गया है। शरीरशास्त्र, मन:शास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र जैसे खंडों की जानकारी भी है तो उपयोगी; पर समग्र मानव को समझे बिना उसकी मूल प्रकृति और प्रवृत्ति पर ध्यान दिए बिना एकांगी, आंशिक समाधानों से कुछ बनेगा नहीं। एक छेद सींते-सींते दूसरे और नए फट पड़ें तो उस मरम्मत से कब तक काम चलेगा। विज्ञान की शोधें मनुष्य की कतिपय आवश्यकताओं को पूरा करने और जानकारियों को बढ़ाने के उद्देश्य से पूरी की जाती हैं किंतु उस महाविद्या की ओर से क्यों उदासी है जिसे समग्र मानव की विवेचना—'साइंस ऑफ मैन' 'साइंस ऑफ सोल' कह सकते हैं।

विज्ञान के आविष्कारों में अपने आप को खपाया—श्रमिकों के स्वेद कणों ने विशालकाय निर्माण संपन्न किए हैं—इंजीनियरों की तन्मयता से निर्माण की योजनाएँ बनती हैं। कलाकार अपनी चेतना भाव-तंरगों में घुलाकर उपस्थित लोगों को मंत्रमुग्ध करते हैं। आत्मविज्ञानी अपने चिंतन और कर्म का समन्वय करते हुए अपने व्यक्तित्व को एक सफल प्रयोगशाला के रूप में प्रस्तुत कर सकें तो जनसाधारण में भी उसके लिए उत्साह उत्पन्न होगा। लक्ष्य ऊँचा हो और संकल्प प्रखर तो फिर मनुष्य के लिए बड़े से बड़ा उत्सर्ग कर

सकना भी कुछ कठिन नहीं है। चिंतन और व्यवहार का समन्वय करती हुई आदर्शवादी आस्थाओं की स्थापना ही अपने युग की महान क्रांति हो सकती है। उज्ज्वल भविष्य की आशा उसी से बँधेगी। इसका नेतृत्व करने के लिए ऐसे अग्रगामियों की आवश्यकता है जो लोकशिक्षण के लिए सबसे प्रभावशाली उपाय आदर्शों के अनुरूप आत्मनिर्माण अपना सके और जलते दीपक द्वारा नए दीपकों के जलने की परंपरा स्थापित कर सकें।

व्यक्ति, समाज का एक मूल्यवान घटक है। उसके प्रयासों का परिणाम उस अकेले तक ही सीमित नहीं रहता वरन अनेकों की इसमें साझेदारी रहती है। समुद्र की लहरें एकदूसरे को प्रभावित करती हैं और मनुष्य एकदूसरे पर अनायास ही अपना प्रभाव छोड़ते हैं। बुरा व्यक्ति अपनी बुराई करके स्वयं दुष्परिणाम भुगत लेता तो कोई चिंता की बात नहीं थी। पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसकी प्रत्येक गतिविधि की दूसरों पर भली-बुरी प्रतिक्रिया होती है। भला मनुष्य परोक्ष रूप में भली परंपरा पैदा करके असंख्यों को किसी न किसी रूप में सुखी बनाना और ऊँचा उठाता है। इसके विपरीत दुर्बुद्धिग्रस्त व्यक्ति अपने दुष्ट चिंतन और चरित्र से कइयों को अनुयायी बनाता है और कितनों को ही कष्टकारक परिस्थितियों में धकेलता है। अस्तु, समग्र प्रगति की सुख-शांतिदायिनी दिशा अभीष्ट हो तो व्यक्ति के अंतराल को परिष्कृत बनाने के लिए उतने ही प्रयत्न करने पड़ेंगे जितने कि भौतिक सुविधा-संवर्द्धन के लिए किए जाते हैं। भीड़ को दिशा निर्देश देने का काम चलता रहे पर व्यक्तियों की गहरी परतें कितनी मूल्यवान हैं, इसका महत्त्व आँखों से ओझल न होने पाए, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए।

भारतीय दर्शन में—अध्यात्म विज्ञान में वे सारी विशेषताएँ मौजूद हैं, जिनका अवलंबन लेकर व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। परिष्कृत व्यक्तित्व ही मनुष्य, समाज और विश्व को प्रकाश और प्रसन्नता दे सकते हैं। इस युग को केवल यही चाहिए शेष सब कुछ तो यहाँ पहले से ही विद्यमान है।

तथ्यों एवं तर्कों से प्रमाणित परब्रह्म की शक्ति

ईश्वर है, पर दिखाई नहीं देता। वैज्ञानिक हठधर्मिता इस दुराग्रह पर अड़ी रहती है कि जो प्रत्यक्ष दृश्यमान नहीं है, उसे कैसे माना जाए? उथली दृष्टि से तर्क की कसौटी पर उनका यह प्रश्न सही भी प्रतीत होता है। किंतु जब थोड़ा गहराई में जाते हैं तो लगता हे कि ये सभी प्रश्नवाचक जिज्ञासाएँ बेबुनियाद हैं। ईश्वर, परब्रह्म, परमात्मा, भगवान—ये सभी नाम उस नियामक सत्ता के हैं जिन्हें आस्तिकवादियों ने अपने-अपने चिंतन के अनुरूप उसे दिए हैं। किसी ने उसे भाव-संवेदना की पराकाष्ठा के रूप में देखा है, तो किसी ने क्रिया की प्रतिक्रिया के सिद्धांत पर चलने वाले, अनुशासन-मर्यादा के आधार पर सृष्टि के क्रिया-कलापों की व्यवस्था बिठाने वाले परब्रह्म के रूप में उसे समझा है। कोई उसे सृष्टि को बनाने वाले एक कुशल कारीगर, बुद्धि-कौशल संपन्न, भाव-प्रवण कलाकार के रूप में जानता है तो कोई उसे अपना इष्ट-आराध्य बनाकर श्रेष्ठता का सद्‌गुणों का समुच्चय कहता है।

ईश्वर के अस्तित्व एवं सार्वभौम नियम व्यवस्था के प्रति विधेयात्मक दृष्टिकोण मानवी सभ्यता के अस्तित्व एवं अभ्युदय के लिए अत्यंत अनिवार्य है। इस तथ्य को सभी चिंतकों, मनीषियों और वैज्ञानिकों ने स्वीकारा है।

विज्ञान क्षेत्र के युगऋषि आइंस्टाइन ने ईश्वर के अस्तित्व संबंधी प्रश्नों का उत्तर देते हुए भेंटकर्त्ता से कहा था—"मेरी दृष्टि में ईश्वर इस संसार में संव्याप्त एक महान नियम है। मेरी मान्यता के अनुसार ईश्वर सत्य-अंतिम सत्य है। यों उसका स्पष्ट रूप

निर्धारित कर सकना आज की स्थिति में अत्यंत कठिन है। इसकी खोज जारी है। अंतिम सत्य की खोज ही विज्ञान का परमलक्ष्य है। अपने मार्ग पर चलते हुए विज्ञान ने जो तथ्य ढूँढ़े और सत्य स्वीकारे हैं, उन्हें दृष्टि में रखने पर भविष्य उज्ज्वल ही प्रतीत होता है।'' प्रारंभ से ही आइंस्टाइन एक ऐसे फारमूले की खोज में थे, जिससे जड़ और चेतन की भिन्नता को एकता में निरत किया जा सके। उनका मत था—''प्रकृति अपने आप में पूर्ण नहीं है, उसे पुरुष द्वारा प्रेरित, प्रोत्साहित और फलवती किया जा रहा है। यह युग्म जब तक सिद्ध नहीं हो जाता, तब तक विज्ञान के कदम लंगड़ाते हुए ही चलेंगे। यह प्रमाणित होने पर परब्रह्म का अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध हो जाएगा।'' आइंस्टीन गलत नहीं थे। उन्होंने कहा था—''ईश्वर कभी पासे नहीं फेंका करता'' अर्थात ईश्वरीय व्यवस्था में संयोगों का कोई स्थान नहीं है। यह तथ्य उन्होंने भौतिकी के माध्यम से सिद्ध करके भी दिखाया।

महात्मा टॉलस्टाय ने लिखा है—''मैंने पहले अनेक तर्कों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना चाहा, किंतु उनसे बोध न हुआ, पर इससे एक बात मेरी समझ में आई कि संसार का कारण देश या काल की भाँति कोई वस्तु नहीं है। यदि 'मैं' हूँ तो इसका कारण भी कुछ जरूर होगा। यह कारण किसी आदि कारण पर आधारित होंगे। संपूर्ण सृष्टि का जो मूल कारण होगा उसे ही लोगों ने ईश्वर कहा है। यह विचार मुझे पसंद आ गया है और इसे ही समझने में अपनी सारी चेष्टा लगा दी। इन प्रश्नों के सुलझाने में मैं जितना ही उलझता गया उतनी एक बात मेरी बुद्धि में स्थिर होती गई कि स्रष्टा है, वही संसार का पालन करता है। इस विश्वास ने मेरी क्षुद्रता प्रकट कर दी। तब से मैं निरंतर परमेश्वर से ही प्रार्थना किया करता हूँ 'प्रभो! मुझे शक्ति दो, ज्ञान दो ताकि मेरे जीवन की गति रुकने न पाए।'

प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो की ईश्वरीय मान्यता भी लगभग ऐसी ही थी, वह कहते थे—''ईश्वर अच्छाई का विचार है। संसार के

प्रत्येक व्यक्ति, यहाँ तक कि जीव-जंतुओं को भी अच्छाई की चाह रहती है। जहाँ अच्छाई होती है, वहीं आनंद रहता है।''

भौतिक विज्ञान दरअसल परमात्मा के अस्तित्व का खंडन नहीं करता, अपितु वह उसे सिद्ध करने में ही सहायक हुआ है। विज्ञान की उच्च सतह पर न पहुँचने के कारण आज कुछ लोग ऐसी भ्रामक धारणाएँ फैलाए हुए हैं, यह दूसरी बात है अन्यथा जिन वैज्ञानिकों ने गहन तथ्यान्वेषण किए हैं, उनमें से प्राय: सभी ने यह माना है कि पदार्थ जड़ है और आत्मा चेतनायुक्त ज्ञानमय द्रव्य है। इन दोनों के गुणों में असमानता है और आत्मा की शक्ति पदार्थ की शक्ति से बहुत बड़ी है। यह महत् शक्ति स्वयं विराट शक्तिपुंज का एक अंग मात्र है।

इस सदी के प्रारंभ से ही अनेक भौतिकीविदों के चिंतन में ईश्वर संबंधी मान्यता पर परिवर्तन होता देखा गया है। जुलाई १९३६ में कलकत्ता (कोलकता) से प्रकाशित 'दी मार्डन रिव्यू'— में सर ए० एस० एडिंग्टन तथा प्रो० अलबर्ट आइंस्टीन के आत्म ज्ञान संबंधी विचार उद्धृत हुए हैं जो इस प्रकार हैं—

''संसार में कोई अज्ञात शक्ति काम कर रही है, जिसे हम नहीं जानते कि वह क्या है? फिर भी इतना तो स्पष्ट है ही कि वह अधिक शक्तिशाली है। मैं चेतना को मुख्य मानता हूँ। इस आत्मा के विषय में मुझे अपने मत से कोई विचलित नहीं कर सकता।''

''मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि सारी प्रकृति में एक असीम शक्तिशाली चेतन—शक्ति काम कर रही है।''

विश्वविख्यात वैज्ञानिक डॉ० गाल का मत है—''विश्व में केवल एक ही विख्यात तत्त्व है जो देखता है, अनुभव करता, प्रेम करता है तथा विचार और स्मृति करता है।''

'जैसे मनुष्य दो दिनों के बीच रात्रि को स्वप्न देखता है वैसे ही मनुष्य की आत्मा भी मृत्यु तथा पुनर्जन्म के मध्य विभिन्न सांसारिक

क्रियाएँ करती हैं—"सर ऑलिवर लाज ने इन शब्दों में आत्मा के अस्तित्व पर प्रकाश डाला है।"

कुछ दिन पूर्व इस बात को लेकर वैज्ञानिकों में काफी लंबी चर्चा चली थी और आत्मा के अस्तित्व संबंधी उनके मत लिए गए थे जिन्हें सामूहिक रूप से 'दी ग्रेट डिजाइन' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया गया है। पुस्तक में उपसंहार करते हुए लिखा गया है—

"यह संसार कोई आकस्मिक घटना नहीं, लगता है इसके पीछे कोई सुनियोजित विधान चल रहा है। एक मस्तिष्क, एक चेतन शक्ति काम कर रही है। अपनी-अपनी भाषा में उसका नाम चाहे कुछ रख लिया जाए, पर वह मनुष्य की आत्मा ही है।"

इसके अतिरिक्त जे० एन० थामसन, जे० बी० एम० हेल्डन, पी० गोइडेस, आर्थर एच० कांम्पटन, सर जेम्स जीन्स आदि वैज्ञानिकों ने भी आत्मा के अस्तित्व में सहमति प्रकट की है। उसके प्रत्यक्ष ज्ञान के साधनों का पाश्चात्य देशों में भले ही अभाव हो, पर विचारवान और बुद्धिशील मनुष्य के लिए यह अनुभव करना कठिन नहीं है कि यह जगत केवल वैज्ञानिक तथ्यों तक सीमित नहीं वरन उन्हें नियंत्रित करने वाली कोई चेतना भी अवश्य काम रही है और उसे जानना मनुष्य के लिए बहुत जरूरी है।

नियंत्रित और नियामक व्यवस्था और व्यवस्थापक के न्याय से भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है। यह तो सर्वमान्य है कि काम का कोई अधिष्ठाता, प्रत्येक रचना का कोई कलाकार अनिवार्य रूप से होता है। आगरे का ताजमहल संसार के सर्वप्रसिद्ध कुछ आश्चर्यों में से एक है। उसके निर्माण में प्रतिदिन २० हजार मजदूर काम करते थे, इतिहासकारों के अनुसार उसका निर्माण ६ करोड़ रुपये में हुआ। उसके निर्माण में साढ़े अठारह वर्ष लगे। उसमें राजस्थान से आया संगमरमर, तिब्बत की नीलम मणि, सिंहल की सिपास्लाजुली मणि, पंजाब के हीरे, बगदाद के पुखराज रत्न लगे। इतनी सारी व्यवस्था और साधन-सामग्री जुटाने में एक व्यक्ति की

बुद्धि व वैभव काम कर रहा था। वह था शाहजहाँ। ताजमहल की रचना के साथ शाहजहाँ भी चिरकाल तक अमर हो गया है। औचित्य-अनौचित्य की चर्चा यहाँ नहीं की जा रही। वरन यह बताया जा रहा है कि किसी स्थापना के अस्तित्व से उसके निर्माता का होना भी सहज ही सिद्ध होता है। कोरिया का मेलोलियम संसार का एक और आश्चर्य है। ६२ हाथ लंबी उतनी ही चौड़ी चहारदीवारी के मध्य ४०-४० हाथ ऊँचे ३६ स्तंभ जो नीचे मोटे, पर क्रमशः पतले होते गए हैं। सीढ़ियों पर नीचे से ऊपर तक संगमरमर की बहुमूल्य मूर्तियों की सजावट। प्रसिद्ध कलाकार पाइथिस और माटीराम द्वारा विनिर्मित इस समाधि मंदिर का निर्माण केवल एक व्यक्ति की इच्छित रचना है, वह थी वहाँ की महारानी 'आर्टीमिसिया'।

बीस लाख रुपये की लागत से बनी २५ फुट ऊँची ओलंपिया की जुपीटर प्रतिमा एथेन के सम्राट पराक्लीज की हार्दिक इच्छा का अभिव्यक्त रूप है। इफिसास का डाइना मंदिर चाँदफिन की कल्पना का साकार रूप तो अजंता की २९ गुफाओं में ५ मंदिरों और चौबीस बौद्ध बिहारों में प्रवरसेन युग के आचार्य सुनंद का नाम अंकित है। सिकंदरिया का प्रकाशस्तंभ सिकंदर के संकल्प का मूर्तिमान रूप है। २६३ हाथ के घेरे में २२ फुट ऊँचे ठोस घेरे में खड़ा किया गया। बैविलोन सम्राज्ञी ने बनवायाा रोम का कोलोसियस, पीसा की मीनार, रोडस की पीतल की मूर्ति, मिस्र के पिरामिड, चार्टेज गिरजाघर, डेविड मोजेज सिस्टाइन चैपिल पियेटा की प्रतिमाएँ, एफिल टावर (पेरिस), व्हाइट हाउस अमेरिका, लाल किला दिल्ली आदि जितनी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं, उनके रचनाकार आला मस्तिष्क और भाव संपन्न आत्माएँ रही हैं। किसी भी सांसारिक निर्माण को स्वनिर्मित नहीं कहा जा सकता। इसी से रचना के साथ रचनाकार का नाम अविच्छिन्न रूप से चलता है। सृष्टि पर भी यही तथ्य लागू होता है।

पूर्वार्त दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक कम का कोई अधिष्ठाता जरूर होता है। परिवार के वयोवृद्ध मुखिया के हाथ

सारी गृहस्थी का नियंत्रण होता है। मिलों-कारखानों की देख-रेख के लिए मैनेजर होते हैं, राज्यपाल-प्रांत के शासन की बागडोर सँभालते हैं, राष्ट्रपति संपूर्ण राष्ट्र का स्वामी होता है। जिसके हाथ में जैसी विधि-व्यवस्था होती है उसी के अनुरूप उसे अधिकार भी मिले होते हैं। अपराधियों की दंड-व्यवस्था, संपूर्ण प्रजा के पालन-पोषण और न्याय के लिए उन्हें उसी अनुपात से वैधानिक या सैद्धांतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। अधिकार न दिए जाएँ तो लोग स्वेच्छाचारिता, छल-कपट और निर्दयता का व्यवहार करने लगें। न्याय व्यवस्था के लिए शक्ति और सत्तावान होना उपयोगी ही नहीं आवश्यक भी है।

इतना बड़ा संसार एक निश्चित व्यवस्था पर ठीक-ठिकाने चल रहा है, सूरज प्रतिदिन ठीक समय से निकल आता है, चंद्रमा की क्या औकात जो अपनी माहवारी ड्यूटी में रत्ती भर फरक डाल दे, ऋतुएँ अपने समय से ही आती और लौट जाती हैं, आम का बौर वसंत में ही आता है, टेसू गरमी में ही फूलते हैं, वर्षा तभी होती है जब समुद्र से मानसून बनता है। सारी प्रकृति, संपूर्ण संसार ठीक व्यवस्था से चल रहा है, जो जरा सा इधर-उधर हुआ कि उसने मार खाई। अपनी कक्षा से जरा डाँवाडोल हुए कि एक तारे को दूसरा खा गया। जीवनक्रम में थोड़ी भूल हुई कि रोग-शोक, बीमारी और अकाल मृत्यु ने झपट्टा मारा। इतने बड़े संसार का नियामक परमात्मा सचमुच बड़ा शक्तिशाली है। सत्तावान न होता तो कौन उसकी बात सुनता। दंड देने में उसने चूक की होती तो नियमितता, अस्तव्यस्तता चारों ओर हो रही होती। उसकी दृष्टि से कोई भी छूटकर पाप और अत्याचार नहीं कर सकता। बड़ा कठोर है वह, दुष्ट को कभी क्षमा नहीं करता। इसलिए वेद ने आग्रह किया है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहु कस्मैदेवाय हविषाविधेम॥

—ऋग्वेद १०॥१२१॥४

हे मनुष्यो ! बरफ से आच्छादित पहाड़, नदियाँ, समुद्र जिसकी महिमा का गुणगान करते हैं। दिशाएँ जिसकी भुजाएँ हैं हम उस विराट विश्वपुरुष परमात्मा को कभी न भूलें।

मनोविज्ञान के आधार पर भी यही प्रमाणित होता है कि बिना उस परमसत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किए विचारशक्ति, संकल्प-बल जैसी मनुष्य की बहुमूल्य विभूतियाँ विकसित नहीं होतीं। जरा गहराई से मानव शरीर के विषय में विचार करें तो ज्ञात होगा कि अब तक जिसने समय-समय पर इतनी सहायता की है, जन्म लेने से पहले ही हर घड़ी गरम, मीठे और ताजे दूध से निरंतर भरे रहने वाले दो-दो डिब्बे जिसने तैयार करके रख दिए थे, माता के रूप में धोबिन, भंगन, डॉक्टर, नर्स, आया तथा मनमाना खरच और दुलार करने वाली एक चौबीस घंटे की बिना वेतन की सेविका जिसने नियुक्त कर रखी थी, प्रत्येक अवसर पर जिसकी सहायता मिलती रही है, वह आगे भी मिलेगी ही और अपना भविष्य उज्ज्वल बनेगा ही, यह विश्वास करने वाला व्यक्ति कभी निराश नहीं हो सकता। उसकी हिम्मत कभी टूट नहीं सकती। आस्तिकता के आधार पर हमारी हिम्मत बढ़ती है और साहसी शूरवीरों जैसा कलेजा बना रहता है।

आस्तिकवादी परमात्मा की कृपा-अनंत अनुकंपा को हर घड़ी अनुभव करता रहा है। वस्तुतः उसके इतने अनंत अनुदान मानव को प्राप्त हैं कि एक-एक पर विचार करने से ऐसा लगता है मानो सृष्टि की सारी विभूतियाँ उसने अपने ही लिए बनाकर रख दी हैं और वस्तु का मनमाना उपयोग करने की पूरी-पूरी छूट दी गई है। इठलाकर बहती हुई नदियाँ, शांति से निकलते हुए सरोवर, मधुर मुस्काते हुए पुष्प, चहकते हुए पक्षी, उमड़-घुमड़कर गरजते-बरसते बादल, लहलहाती हरियाली, आकाश चूमने वाले पर्वत, जिधर भी दृष्टि डाली जाए, उधर ही प्रकृति का अनंत सौंदर्य बिखरा पड़ा है और हर कोई मनचाही मात्रा में उसका पूरा-पूरा निर्बाध रसास्वादन करने को स्वतंत्र है।

हमारी अपनी आँखें स्वयं प्रकाश ज्योति से प्रकाशवान होती हैं तो भी वे अपने आलोक को देख सकने में समर्थ नहीं होतीं। हाथ के लिए आँखों की ज्योति को देख सकना तो और भी कठिन है। जड़ पदार्थों से बने इंद्रिय समूह से—यंत्र उपकरणों से उस परम चेतन ज्योति को कैसे देखा जाए? यह संभव न होने से ही यदि ईश्वर की सत्ता मानने से इनकार किया जाए तो बात दूसरी है, अन्यथा यदि सूक्ष्म और स्थूल की अनुभूति के लिए प्रत्यक्ष से साक्षी न बनने की बात स्वीकार कर ली जाए तो ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति पग-पग पर हो सकती है। जड़ से जड़ की नाप-तौल हो सकती है। चेतन-चेतन की अनुभूति पा सकता है। परिष्कृत, परिशोधित आत्मा के लिए यह तनिक भी कठिन नहीं है कि वह अपने अंतराल में विद्यमान ऐसी सत्ता का अनुभव करे जो उसे निरंतर ऊँचा उठाने और आगे बढ़ाने का आह्वान करती है।

संसार व्यापार पर दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि प्रजनन जीव जगत में होने वाली एक सहज प्रक्रिया है। किंतु उस पर भी नियामक सत्ता का कहीं से परोक्ष नियंत्रण है। सुअर, कुत्ते, जैसे जीव अपने जीवनकाल में सौ-पचास बच्चे पैदा कर लेते हैं। मक्खी, मच्छर, मछली, चींटी, दीमक आदि तो कई-कई सौ अंडे देती हैं। मुरगी को ही देखिए, वह अपने जीवनकाल में कई सौ अंडे देती होगी। यह उत्पादनक्रम विश्व के लिए निर्बाध गति से चले तो उसके बच्चे ही इस सारी धरती पर कुछ ही वर्षों में छा जावें और अन्य प्राणियों को खड़े रहने के लिए भी जगह न बचे। पर कोई सूक्ष्म सत्ता इस वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए रोग, युद्ध, दुर्भिक्ष, अभाव आदि पैदा करती रहती है और वे सीमित संख्या में उतने ही बने रहते हैं, जितने के लिए धरती पर गुंजाइश है। यदि ऐसा न होता तो करोड़ों वर्षों से चले आ रहे जीवधारी अब तक इतने हो गए होते कि उन्हें अन्य लोक में भेजने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहता।

जिस ऋतु में जो रोग होता है, उसको शमन करने वाली जड़ी-बूटियाँ भी उसी में होती हैं। फल, शाक और अन्नों के बारे में भी यही बात है। ऋतु की आवश्यकता के अनुसार ही पृथ्वी में से वनस्पति और फल-फूल पैदा होते हैं। जहाँ के निवासियों को वहीं की जलवायु और अन्न, शाक, औषधि अनुकूल पड़ती है। यह कार्य किसी विचारवान शक्ति का ही हो सकता है।

नास्तिकता के पक्षधर चिंतकों ने भी प्रकारांतर से आस्तिकता का ही समर्थन किया है। नीत्से ने कहा था—"ईश्वर मर चुका।", किंतु इतना कहने के बाद उसके प्रौढ़ चिंतन ने उसे यह स्वीकार करने पर विवश किया कि उसकी कल्पना का ईश्वर भले ही मर गया हो पर स्थान रिक्त होने से जो शून्यता उत्पन्न होगी उसे सहज ही न भरा जा सकेगा। उद्देश्य, आदर्श और नियंत्रण हट जाने से मनुष्य जो कर गुजरेगा, वह ईश्वरवादी भ्रांतियों की अपेक्षा अधिक दुखदायी ही सिद्ध होगा।

नीत्से ने उसका समाधान कारक उत्तर 'अतिमानव' का लक्ष्य सामने प्रस्तुत करके दिया है। "मनुष्य को अपनी इच्छाशक्ति इतनी प्रखर बनानी चाहिए जो उसके व्यक्तित्व को अति मानव स्तर का बना सके। यह निखरा हुआ व्यक्तित्व इतना प्रचंड होना चाहिए कि जन-प्रवाह के साथ बहती हुई विकृतियों पर नियंत्रण स्थापित करने के साधन जुटा सके। मनुष्य जीवन का लक्ष्य 'अति मानव' के रूप में विकसित होना चाहिए जो संकल्पों के मार्ग में आने वाले हर प्रतिरोध का निराकरण कर सके। सामाजिक जीवन में उसे इतना प्रतिभाशाली और साधन संपन्न होना चाहिए कि प्रचलित अवांछनीयताओं पर नियंत्रण कर सकने की क्षमता का अभाव अखरे नहीं।" नीत्से का यह अतिमानव प्रकारांतर से विचार-प्रेरणा के रूप में अंत:करण में सदा विद्यमान वह ईश्वर ही है। प्रसुप्ति से जगाने पर वही मानव का कायाकल्प कर उसे ऊँचा उठाकर कहीं से कहीं पहुँचा देता है।

इस समय सृष्टि एवं उसमें भी सर्वश्रेष्ठ कृति मानव को देखकर यही प्रतीत होता है कि उस मूर्तिकार ने इस मूर्ति को बनाने में अपनी कला का अंत कर दिया है। ईश्वर कितना महान और अद्‌भुत है, उसे देखना, जानना हो तो उसकी कलाकृति मानव प्रतिमा को बारीकी से देखा जाए। उसके कण-कण से जो सुंदरता, गरिमा टपकती है वह अपने आप में अनुपम है। ऐसा सर्वांगपूर्ण सृजन इस विश्वब्रह्मांड में अन्यत्र कहीं भी ढूँढ़े नहीं मिल सकता।

ईश्वर का अरमान पूरा हो गया और क्रिया-कलाप संपन्न। अब हमारा कर्त्तव्य आरंभ होता है कि उस कर्त्तव्य को कलुषित और कलंकित न करें। स्रष्टा की गरिमा को गिरने न दें और उन अरमानों को चोट न पहुँचाएँ जिन्हें लेकर, स्रष्टा ने इतनी तीव्र आकांक्षा की और सृजन का कष्ट उठाया।

हमें चाहिए कि अपने स्वाभिमान और ईश्वर के सम्मान को समझें और अपना स्तर वैसा रखें जिससे आत्मा और परमात्मा का गौरव गिरने न पाए। निकृष्ट गतिविधियाँ अपनाकर हम अपने को कलंकित नहीं करते वरन ईश्वर की गरिमा को भी गिराते हैं। हमें प्रतिष्ठित होकर जीना चाहिए। अपनी और अपने सृजेता की प्रतिष्ठा को नष्ट न होने देना चाहिए। आस्तिकता के तत्त्वदर्शन को समझकर उसे हृदयंगम करने में ही इस जीवन की सार्थकता है। जीवन देने वाले के प्रति हम कृतज्ञ हैं, उसके अनुदानों का दुरुपयोग कभी न होने देंगे, यह संकल्प लेने पर हम उसी की इच्छानुकूल जीवन जीते हैं।

□

अनुशासन एवं नीतिमत्ता पर आधारित ईश्वरीय विधान

विश्वविख्यात वैज्ञानिक दार्शनिक एरिस्टोटल के लिए संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य था—ब्रह्मांड का स्वरूप और उसकी नियमित गति। एक प्रकाश वर्ष की दूरी १८६०००×६०×६०×२४×३६५१/४ =२०५४३९९७६००००० मील होती है। सैद्धांतिक अनुमान है कि यह जो ब्रह्मांड दिखाई दे रहा है, वह ५० करोड़ प्रकाश वर्ष की दूरी में (व्यास) में फैला हुआ है। हम जिस सूर्य के प्रकाश से अपना जीवन चलाते हैं, वह जिस आकाश गंगा (नेबुला) से प्रकाश लेता है। ऐसी-ऐसी दस करोड़ आकाश गंगाएँ अंतरिक्ष में प्रकाश फैलाती हुई अरबों सूर्यों को चमका रही हैं। इसमें अन्य ग्रह नक्षत्रों की तो संख्या गिनी भी नहीं जा सकती।

इतना बड़ा संसार भी कितनी नियम और व्यवस्था के साथ चल रहा है और तो और हमारा मस्तिष्क गणित के द्वारा पहले ही ग्रह-नक्षत्रों के परिभ्रमण-पथ पर होने वाले ग्रहण आदि संघातों का पता लगा लेता है, इसका अर्थ है कि संसार अनियमित नहीं। इतने विराट जगत को घुमाने वाला कोई महान शक्तिशाली तत्त्व होना चाहिए। एरिस्टोटल का कथन है, "वह केवल ईश्वर ही सकता है। भगवान के अतिरिक्त और किसी में यह शक्ति नहीं परमात्मा सृष्टि का संचालक है।" यह उनकी मान्यता थी।

हर्बर्ट स्पेन्सर की दृष्टि में भगवान एक विराट शक्ति है, जो संसार की सब गतिविधियों का नियंत्रण उसी प्रकार करते हैं। जिस प्रकार मुखिया घर का, प्रधान गाँव का, कलेक्टर जिले का, गवर्नर प्रदेश का और राष्ट्रपति देश का करता है। उन्होंने कहा—"राज्य के नियमों का हम इसलिए आदर करते हैं, क्योंकि हमें राज्य की

शक्ति से भय होता है। नैतिक नियमों का पालन न करने पर भी हमें भय लगता है, जबकि हम उसके लिए पूर्ण स्वतंत्र होते हैं, यह इस बात का प्रमाण है कि संसार में कोई सर्वोच्च सत्ता काम करती है, हम उसके परिचय में कभी न कभी रहे हैं, क्योंकि हम डरते हैं। निर्भीक व्यक्ति नैतिक व्यक्ति ही हो सकता है, इसलिए इस संसार की व्यवस्था ईमानदारी और न्याय से करने वाला प्रजावत्सल तत्त्व होना चाहिए।"

विकासवादी दार्शनिक एल्डुआ हक्सले लिखते हैं कि सर्व नियामक सत्ता की प्रबंध व्यवस्था का पता जीवन के आविर्भाव से ही चल जाता है। जीवन की उपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सृष्टि में ऐसा प्रबंध है कि वे सरलतापूर्वक पूरी हो जाया करें। साँस के बिना प्राणी एक क्षण को भी जीवित नही रह सकता, सो वह प्रचुर मात्रा में सर्वत्र उपलब्ध है। उसके बाद जल की आवश्यकता है, उसके लिए थोड़ा प्रयत्न करने से ही काम चल जाता है। तीसरी आवश्यकता अन्न की है सो उसके लिए साधन न जुटा सकने वाले प्राणियों के लिए फल-फूल की प्राकृतिक व्यवस्था है, वहीं बुद्धिधारी जीव थोड़े प्रयत्नों से ही अपनी आवश्यकता पूरी कर लेते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ जो भी कुछ है जीवन को सुव्यवस्थित नीतिबद्ध बनाए रखने के लिए ही है। नियामक सत्ता की यह विधि व्यवस्था अपने में अनुपम अद्‌भुत है।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने हर्बर्ट स्पेन्सर एवं हक्सले के कथन को और भी अधिक स्पष्ट किया है। वह लिखते हैं—"नैतिक नियमों की स्वीकृति ही परमात्मा के अस्तित्व का प्रमाण है और पूर्ण नैतिकता ही उसका स्वरूप है। संसार का बुरे से बुरा व्यक्ति भी किसी न किसी के प्रति नैतिक अवश्य होता है। चोर, डकैत भी नहीं चाहते कि कोई उनसे झूठ बोले, छल या कपट करे। जबकि वे स्वयं सारे जीवनभर यही किया करते हैं। अपने भीतर से नैतिक नियमों की स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि संसार केवल

नैतिकता के लिए ही जीवित है, उसी से संसार का निर्माण, पालन और पोषण हो रहा है, इसलिए भगवान नैतिक शक्ति के रूप में माना जाने योग्य है।''

हिब्रू ग्रंथों में ईश्वर को 'जेनोवाह' कहा गया है। जेनोवाह का अर्थ है, वह जो सदैव सत्य नीति ही प्रदान करता है, मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को ठगता देखा जाता है। पर पाया गया है कि ऐसा व्यक्ति कुछ ही दिनों में लोगों के आदर-सम्मान से वंचित हो जाता है। कभी-कभी तो ऐसे लोगों की इसी जीवन में दुर्गति होते देखी गई है। इस सब का यह अर्थ है कि विश्व की संपूर्ण व्यवस्था किसी सत्य के आधार पर चल रही है। जो भी उससे हटने का प्रयत्न करता है, वह पीड़ित और प्रताड़ित होता है, जबकि इन नियमों पर आजीवन आरूढ़ रहने वाले व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से कुछ घाटे में भी रहें तो भी उनकी प्रसन्नता में कोई अंतर नहीं आता।

वास्तविकता यह है कि ईश्वर को, उसके विधि-विधान के रूप में नहीं, हम उसे अपने ही चश्मे से उसी रूप में देखना चाहते हैं। यह एक प्रकार का बालहठ है। ईश्वर की प्रतिच्छाया विभिन्न रूपों में समष्टिगत चेतन सत्ता में समाई हुई है। उसके अस्तित्व का प्रमाण ढूँढ़ने के लिए अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं। विवेक दृष्टि के अवलंबन से उसे जब चाहें, जहाँ चाहें उस रूप में देख सकते हैं एवं उसकी चमत्कारी परिणतियों से अपनी आस्तिकता को पोषण दे सकते हैं।

पैस्कल कहते थे—''जो हमारी पकड़ में नहीं आया, उसके संबंध में यह सोचना गलत है कि उसका अस्तित्व है ही नहीं।'' अब से कुछ शताब्दियाँ पहले बिजली, रेडियो आदि की कहीं चर्चा तक नहीं थी। भूतकाल में भी कभी उनकी उपस्थिति नहीं देखी हीं गई थी। इन शक्तियों की कल्पना जब किन्हीं मस्तिष्कों में उदय हुई तब भी कोई ऐसे प्रमाण नहीं थे जिनसे उनकी उपस्थिति निश्चित

रूप से सिद्ध की जा सके। फिर भी अनस्तित्व से अस्तित्व को संभावना स्वीकार की गई और खोजें चल पड़ी। विभिन्न आविष्कार इसी प्रकार प्रकट हुए हैं।

ईश्वर के अस्तित्व से मात्र इस आधार पर इनकार करना अयोग्यता है कि वह इंद्रियों और यंत्रों की पकड़ में नहीं आता। ईश्वर तो चेतन है। जड़ जगत की भी अभी अनेक शक्तियाँ परदे के पीछे से झाँकती हैं और अपने आभास का संकेत करती हैं।

सृष्टि संरचना पर दृष्टि दौड़ाते हैं तो ऐसा लगता है सारा निर्माण किसी गणितज्ञ, सूझ-बूझ वाले बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा हुआ है। सृष्टि का प्रादुर्भाव एकाएक अकस्मात दुर्घटनावश, यों ही नहीं हो गया। रेल की रेल से, मोटर से, पुल से दुर्घटना हो जाती है तो ध्वंस होता है, विनाश होता है, त्राहि-त्राहि मचती है जबकि संसार में अच्छी से अच्छी और उससे अच्छी प्रसन्नतादायक रचनाएँ होती चली आती हैं, ध्वंस के स्थान पर व्यवस्था दिखाई देती है। प्रसन्नता, प्रफुल्लता, उल्लास उत्साह और प्राणों की छलकन दिखाई देती है। दुर्घटना कभी-कभी होती है, आकस्मिकता का नंबर करोड़ों बार के प्रयोगों में कहीं एक बार आता है।

परमेश्वर का अस्तित्व एक जिस महत्त्वपूर्ण आधार पर प्रमाणित किया जा सकता है, वह है पारस्परिक सहकार अन्योन्याश्रित संबंधों के कारण चल रहा संसार व्यापार। समष्टि की व्यष्टि में संव्याप्ति एवं इस आधार पर एकात्मकता से बढ़कर आस्तिकता का कोई ठोस आधार नहीं हो सकता।

पारस्परिक सहयोग की अविच्छिन्न प्रक्रिया विकास का ही नहीं आनंद का भी आधार है। भौतिक जगत में पग-पग पर इस तथ्य को अनुभव किया जा सकता है। परमाणु जिसे सबसे छोटी इकाई माना जाता है, एकाकी नहीं है-वरन न्यूट्रोन, प्रोटोन आदि अपने सहयोगियों के आधार पर ही सृष्टि का क्रिया कलाप संचालित किए रह सकने में समर्थ होता है। ग्रह-नक्षत्र पारस्परिक आकर्षण में जकड़े रहने के

कारण ही आकाश में अधर लटके हुए हैं। पंचतत्त्वों का सम्मिश्रण यदि न हो तो इस विश्व का अस्तित्व ही प्रकाश में न आए।

मानवी सूक्ष्मतम इकाई शुक्राणु से निषेचित होकर बना भ्रूण भी इस सिद्धांत का ही प्रतिपादन करता दिखाई देता है। भ्रूण जैसी अत्यधिक कोमल और संवेदनशील सत्ता को विकसित होने के लिए खुला छोड़ दिया जाता तो प्राणधारी के लिए उपयोगी वायु, ताप और अन्य प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालती, सो उसके लिए अति वातानुकूलित और सर्वसुविधा संपन्न निवास माँ के गर्भाशय की व्यवस्था क्या किसी अत्यधिक प्रबुद्ध सत्ता के अस्तित्व का प्रमाण नहीं। जहाँ चारों तरफ से बंद कोठरी में ही उसे विकास की समस्त सुविधाएँ उचित मात्रा में मिलती रहती हैं। जन्म के पूर्व ही उसके लिए संतुलित आहार माँ के दूध जैसा उपलब्ध कराकर उसने अत्यधिक करुणा दरसाई। असहाय, असमर्थ शिशु के लिए न केवल भौतिक सहायताएँ अपितु उसके लिए जिन भावनात्मक सुविधाओं की आवश्यकता थी, वह समस्त उसे कुटुंब में, समुदाय और समाज में मिल जाती हैं।

इस प्रकार माता के उदर में रखे बिना, अपना रक्त, मांस दिए बिना, दूध पिलाए और पालन किए बिना भ्रूण की जीवन प्रक्रिया गतिशील नहीं हो सकती। बालक भोजन, वस्त्र आदि की सुविधाएँ स्वयं उपार्जित नहीं कर सकता, उसे इसके लिए अभिभावकों की सहायता अभीष्ट होती है। छात्र अपने आप पढ़ तो सकता है पर उसे पुस्तक, फीस आदि का खरच पिता से और शिक्षण सहयोग अध्यापक से प्राप्त करना पड़ता है। इसके बिना उसका शिक्षाक्रम मात्र एकाकी पुरुषार्थ से नहीं चल सकता। माता-पिता अपनी संतान का पालन-पोषण करते हैं, वे बच्चे बड़े हो जाने पर अपने बच्चों के लालन-पालन की जिम्मेदारी उठाते हैं। यही क्रमानुगत परंपरा चलती रहती है। अध्यात्म दर्शन की यह व्यवस्था जगत के सभी क्रिया-कलापों में सक्रिय रूप से देखी जा सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति में जो बीजरूप में क्षमताएँ विद्यमान हैं, उन्हें विकसित करने के लिए बाहर से भी बहुत कुछ सहयोग लेना पड़ता है। यह सारा समाज सहकारिता के सिद्धांतों से जकड़ा हुआ है। हमारा विकास ही नहीं, जीवन भी पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही गतिशील हो रहा है।

ग्रह-नक्षत्रों का अस्तित्व और क्रिया-कलाप भी पारस्परिक सहयोग और आदान-प्रदान पर ही चल रहा है। अपनी पृथ्वी को ही लें, वह सूर्य से बहुत कुछ ग्रहण करती, उसके अनुदान से अपना काम चलाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह दूसरे ग्रहों को अपना अनुदान नहीं देती। निश्चित रूप से लेने के साथ, देने का भी अविच्छिन्न तथ्य जुड़ा हुआ है। जो लेता भर रहेगा और देने का नाम न लेगा, वह बेमौत मरेगा। पृथ्वी दूसरे ग्रहों को पर्याप्त अनुदान देती है, पर साथ ही विशेषताओं को अक्षुण्ण रखने के लिए सूर्य पर निर्भर भी रहती है।

अनीश्वरवादियों का कथन है—"प्रकृति के जड़ परमाणु अपने आप अपनी धुरी पर घूमते हैं, बदलते और हलचल करते हैं, उसी का क्रम चलता है तथा प्राणियों की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की इसमें कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

इस कथन पर विचार करते हुए हमें देखना होगा कि क्या चेतन की प्रेरणा बिना पदार्थों में एक क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित गतिविधि निरंतर चलते रहना संभव हो सकता है? देखते हैं कि कोई रेल, मोटर, जहाज, मशीन, अस्त्र आदि कितना ही महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली क्यों न हो, उसे चलाने के लिए चालक की बुद्धि ही काम करती है। राकेट से लेकर उपग्रह तक स्वचालित यंत्र तभी अपनी सक्रियता जारी रख पाते हैं, जब रेडियो सक्रियता के माध्यम से मनुष्य उन्हें किसी दिशा विशेष में चलाते हैं। चालक के अभाव में अपनी इच्छा और शक्ति से यदि वस्तुएँ अपने आप ही चलने और काम करने लगें तो फिर उन्हें जड़ ही क्यों कहा जाए!

मशीन से संबंधित जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सभी चालक की अपेक्षा रखती हैं। संचालन करने एवं प्रयोग करने वाला न हो तो वे महत्त्वपूर्ण होते हुए भी किसी के कुछ काम नहीं आतीं। इससे प्रकट होता है कि जड़ पदार्थ किसी संचालक की प्रेरणा से ही सक्रियता धारण करते हैं। विशाल सृष्टि के कार्यक्रम में जो सक्रियता, नियमितता और व्यवस्था दीख पड़ती है, उसके पीछे भी चेतन सत्ता का हाथ होना आवश्यक है। इतना बड़ा सृष्टि-साम्राज्य अपने आप इतने विवेकपूर्ण ढंग से नहीं चल सकता। हवा को चलाने वाली, बादलों को बरसाने वाली, नदियों को बहाने वाली, ऋतुओं को बदलने वाली, पौधों को उगाने और सुखाने वाली, कोई शक्ति मौजूद है—यह मानना पड़ेगा। इसे प्रकृति कहें या परमेश्वर—इस नामभेद से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

पदार्थों में क्षमता मौजूद भले ही हो, पर उसे गतिशील बनाने वाली एक प्रेरक शक्ति का भी पृथक से अस्तित्व मौजूद है। अणु अपनी धुरी पर अपने आप नहीं घूमते, उन्हें घुमाने वाली भी कोई प्रेरक शक्ति होनी चाहिए। इतने नियमबद्ध, इतने विशाल विश्व ब्रह्मांड का ठीक प्रकार संचालन होते रहना किसी चैतन्य सत्ता के द्वारा ही संभव है। बुद्धिहीन जड़ पदार्थ अपने आप अपना कार्य नियमपूर्वक करते रहेंगे, यह कैसे संभव हो सकता है? सूर्य, चंद्रमा, ग्रह-नक्षत्र अपनी-अपनी धुरी तथा कक्षा में निर्धारित गति से घूमते हैं। यदि इसमें तनिक भी अंतर आ जाए तो एक ग्रह दूसरे से टकराकर टूटने लगें और इसकी प्रतिक्रिया से अन्य ग्रह-नक्षत्रों की भी गति-व्यवस्था बिगड़ जाए। पर होता ऐसा नहीं, क्योंकि इन सबका संचालन एक सावधान सत्ता द्वारा हो रहा है।

जो भी वस्तुएँ हमारे उपयोग में आती हैं वह किसी न किसी के द्वारा बनाई हुई होती हैं। रोटी, कपड़ा, दवा, मकान, चारपाई, बरतन, लालटेन, पुस्तक, घड़ी आदि हमारे उपयोग की सभी चीजें किसी के द्वारा बनाई गई हैं। इनके मूल पदार्थ—अन्न, धातु, कपास

आदि को तथा उनके भी मूल पंचतत्त्वों को बनाने वाला भी कोई होना ही चाहिए। इसी निर्मात्री और संचालन शक्ति का नाम ईश्वर है।

प्राणियों के शरीर में खाद्य पदार्थों को रक्त मांस के रूप में परिणत करते रहने वाली पाचन प्रणाली ऐसी आश्चर्यजनक है कि उसकी रासायनिक क्षमता देखते ही बनती है। रोगों की निरोधक-शक्ति स्वयं ही बीमारियों से लड़ती और रोगमुक्ति का साधन बनती है। चिकित्सकों के उपचारों द्वारा उसे थोड़ी सहायता ही मिलती है। इस प्रक्रिया की आश्चर्यजनक शक्ति को देखते हुए वैज्ञानिकों को दाँतों तले उँगली दबाकर रह जाना पड़ता है। शरीर में लगा हुआ एक-एक कल पुरजा इतना संवेदनशील और अद्‌भुत कौशल से भरा हुआ है कि उसे अपने आप बना हुआ, अपने आप काम करने वाला नहीं माना जा सकता।

जीवकोशों का विघटन ही मृत्यु है। जब तक शरीर के यह छोटे घटक मिल-जुलकर काम करते हैं—एकदूसरे के पूरक एवं सहयोगी बनकर रहते हैं तभी तक जीवन की सत्ता है। विघटन आरंभ हो तो उसका परिणाम मृत्यु के रूप में सामने आ खड़ा हुआ होगा। पदार्थ कोई भी क्यों न हो! परमाणुओं की अमुक स्थिति के ऊपर ही उनका अस्तित्व निर्भर है। संगठन क्रम में अव्यवस्था उत्पन्न होते ही वस्तुएँ सड़ने, टूटने तथा नष्ट होने लगती हैं। उनका स्वरूप देखते-देखते विकृत हो जाता है। संगठन-सहकार की यह व्यवस्था ईश्वरीय अस्तित्व का सशक्त प्रमाण है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि शक्ति हमेशा सहयोग के बल पर उत्पन्न होती है। बिजली के ठंढे-गरम तार अलग-अलग पड़े रहें तो व्यर्थ हैं, पर जब वे मिल जाते हैं तो 'करेंट' चालू हो जाता है। एकाकी व्यक्ति की अपनी थोड़ी सी सीमा-मर्यादा है, अपने बलबूते पर भी कुछ तो हो ही सकता है,पर वह होगा नगण्य ही। बड़ी संभावना तो सम्मिलित शक्ति के द्वारा ही मूर्तिमान होती है। एक-

एक सैनिक अलग-अलग फिरे तो उनके छिटपुट कार्य एक सुगठित सैन्य टोली जैसे नहीं हो सकते।

शरीर में कोशिकाओं की स्वतंत्र सत्ता अवश्य है पर वह अपने आप में पूर्ण नहीं है। एक-से-दूसरे का पोषण होता है और दूसरे से तीसरे को बल मिलता है। हम सभी एकदूसरे पर निर्भर हैं। यहाँ न कोई स्वतंत्र है और न स्वावलंबी। साधन सामूहिकता ही विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलापों, अस्तित्वों और तथ्यों की जननी है। मानवी प्रगति का यही रहस्य है। प्रकृतिप्रदत्त समूह संरचना का उसने अधिक बुद्धिमत्तापूर्वक लाभ उठाकर समाज-व्यवस्था बनाई और सहयोग के आधार पर परिवार निर्माण से लेकर शासन सत्ता तक के बहुमुखी घटक खड़े किए हैं।

यह समझना भूल है कि व्यक्ति एकाकी ही पर्याप्त है। उसकी सारी विशेषताएँ सहयोग और संगठन प्रक्रिया पर टिकी हुई हैं वस्तुतः वह अनेक अंग-प्रत्यंगों का—कोशिकाओं और नाड़ी-तंतुओं प्रभृति अनेक घटकों का समूह मात्र है। इनमें से एक भी पुरजा यदि अस्त-व्यस्त हो जाए तो देखते-देखते सुदृढ़ प्रतीत होने वाला काय-कलेवर आधि-व्याधियों से ग्रस्त दीन-दुर्बल हो जाता है।

हमारे शरीर का प्रत्येक कोश एक स्वतंत्र मानव बीज है उसमें मनुष्य की सारी स्थूल और चेतन क्रियाएँ विद्यमान हैं। 'कोश' सांस लेता है, खाता है, पीता है, चलता है, डरता है, बचाव करता है, भागता है, मल विसर्जन करता है। 'अमीवा' एककोशीय जीव है। उसका नाभिक जब दो भागों में बँट जाता है तो वह दो अमीवा बन जाते हैं और दोनों अपनी-अपनी तरह से उक्त क्रियाएँ और अनुभूति करने लगते हैं। दो विभाज्य अमीवा, दो अलग गुणों वाले अमीवा आत्मा (न्यूक्लियस) की दृष्टि से एक ही है और उदाहरण के लिए जब दो अमीवा अपनी शक्ति में ह्रास अनुभव करते हैं तो वह एक दूसरे में मिलकर दो नाभिक (न्यूक्लियस) से एक नाभिक (न्यूक्लियस) वाला एक अमीवा बन जाते हैं। उस स्थिति में वह नवजात अमीवा की सी शक्ति अनुभव करता है।

जीव जगत में 'कमेन्सलिज्म का' सिद्धांत भी 'जियो और जीने दो' की समाजवादी व्यवस्था का आदर्श उदाहरण है। कुछ खास किस्म के सूक्ष्म जीवाणुओं में अपने विकास के साधनों का ज्ञान नहीं होता। उन्हें अपनी आजीविका और विकास के लिए साधनों की वैसे ही आवश्यकता पड़ती है जैसे समाज के अनेक पिछड़े, पददलित, अपंग, आदिवासी, स्त्रियों व हरिजनों को शिक्षा, ज्ञान-संवर्द्धन, स्वास्थ्य, उत्तम उद्योग आदि के साधनों की आवश्यकता होती है इस आवश्यकता को दूसरे महत्त्वपूर्ण जीवाणु 'विटामिन' और 'एमीनो एसिड' बनाकर पूरा कर देते हैं। शिक्षित, संपन्न और प्रतिभावान लोगों ने पिछड़े समाज को ऊपर उठाने के लिए इस सिद्धांत के आधार पर अपने साधनों का एक अंश भी जुटा दिया होता तो आज संसार में कोई भी पिछड़ा और पददलित नहीं होता। सब लोग सुखी होते। 'एरोब्ज' और 'एनारोब्ज' जीवाणु इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि मनुष्य को अपने ही नहीं दूसरों के विकास का भी सदैव ध्यान रखना चाहिए, पारस्परिक सहयोग के आधार पर अपना जीवनक्रम चलाना चाहिए।

कृषि, पशुपालन, चिकित्सा, विज्ञान, शिक्षा, शिल्पकला, व्यवसाय, उद्योग, परिवार, समाज, शासन आदि ज्ञान-विज्ञान की अगणित उपलब्धियाँ हमारे सामने प्रस्तुत हैं और हम देवोपम साधन संपन्नता का उपभोग कर रहे हैं। यह सारा वैभव-चमत्कार सहकारिता की सत्प्रवृत्ति का है। एक आदमी दूसरे के साथ सघन आत्मीयता स्थापित न करता—दूसरों के सुख-दुःख में भागीदारी करने में उत्साह न रखता तो सहयोग की इच्छा ही न उठती और आदान-प्रदान का सिलसिला न चलता। इस स्थिति से उस प्रगति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है जिनके कारण मनुष्य जीवन को सुरदुर्लभ अनुभूतियों से भरा-पूरा माना जाता है। यथार्थता यह है कि सहयोग और उत्कर्ष एकदूसरे पर पूरी तरह निर्भर है। एक के बिना दूसरे की न आशा की जा सकती है और न संभावना ही बनती है।

एकाकी मनुष्य जीवित भर रह सकता है। उल्लास एवं उत्कर्ष के लिए उसे साथी ढूँढ़ने पड़ते हैं और समूह में रहने की व्यवस्था जुटानी पड़ती है। इसके अतिरिक्त स्नेह, सद्भावना, आत्मीयता एवं घनिष्ठता के इतने गहरे पुट लगाने पड़ते हैं कि एकदूसरे के लिए तत्पर रहें। दूसरे के दुःख उत्सर्ग हेतु बँटाने और अपने सुख को दे डालने में प्रसन्नता अनुभव करें। ऐसी स्थिति जो जितनी अधिक और जितने अच्छे स्तर की बना सकता है, वह उतना ही सुखी, समुन्नत एवं सुसंस्कृत पाया जाता है। अनेकानेक सद्गुण इसी सहयोग रूपी कल्पवृक्ष के पत्र-पल्लव समझे जा सकते हैं।

विनोद भी एकांगी नहीं हो सकता, भावनात्मक उल्लास की अनुभूति भी छोटे वर्ग में सीमित रहकर नहीं हो सकती। रासलीला में गोप-गोपियों का सामूहिक हास-विलास यह बताता है कि ममता और आत्मीयता का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होना चाहिए। 'अधिक लोगों का अधिक लाभ' वाले सिद्धांत को अध्यात्म, धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में भी प्रधानता प्राप्त है। सबमें अपने को और अपने में सबको देखने-समझने की दृष्टि रखकर मनुष्य का व्यक्तित्व अधिकाधिक विकसित एवं परिष्कृत बनता चला जाता है। आत्म विस्तार की चरम अवधि तक जा पहुँचने का नाम ही आत्मसाक्षात्कार, ईश्वरदर्शन, जीवन-मुक्ति अथवा लक्ष्यप्राप्ति के आकर्षक नामों में आलंकारिक प्रतिपादनों के साथ प्रस्तुत किया गया है। संगठन का महत्त्व जितना अधिक और जितनी जल्दी समझा जा सके उतना ही लाभ है। **'संघशक्ति कलौयुगे** सूत्र में सार रूप में यही बताया गया है कि इस युग में संसार का सबसे बड़ा, मनुष्य का सबसे प्रखर बल संगठन ही है। जो उसके लिए प्रयत्नशील रहेगा वह सुखी बनेगा और जिसने इसकी अवज्ञा-उपेक्षा की उसे उसी की प्रगतिगामिता चूर्ण-विचूर्ण करके रख देगी।

समाज व्यवस्था—शासन व्यवस्था की संरचना परिवार पद्धति की सहयोगपरक आचार संहिता के आधार पर ही बन सकी है।

अर्थतंत्र का पूरा ढांचा सहकारिता ही है। वस्तुओं का उत्पादन और विनिमय वितरणक्रम ही धीरे-धीरे वर्तमान अर्थव्यवस्था तक बढ़ता आया है। शिल्प, चिकित्सा, शिक्षा, कला-कौशल और विज्ञान के चरण एकाएक नहीं उठे हैं। अमुक आविष्कार का श्रेय अमुक व्यक्ति को मिला यह दूसरी बात है, पर वस्तुत: सफल आविष्कार की पृष्ठभूमि बहुत पहले से ही बनने लगी थी और उसमें से अनेकों का चिंतन एवं प्रयास जुड़ते हुए यह आधार बन सका था, जिसके सहारे उसे अंतिम रूप से उद्घोषित किया गया। धर्म, दर्शन, अध्यात्म जैसी उच्चस्तरीय भावनात्मक चेतनाएँ किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं हैं। इनके क्रमिक विकास में अनेकानेक पीढ़ियों की सहस्राब्दियाँ नियोजित हुई हैं। यह सब सहयोग का ही परिणाम है।

परब्रह्म की सत्ता को सहकार, नियम, व्यवस्था के आधार पर प्रतिपादित किए जाने पर यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि वह परम दयालु होने के साथ-साथ अनुशासन प्रिय भी है। ऐसा न हो तो कहीं संतुलन, व्यवस्था दृष्टिगोचर न होती।

ईश्वर भी इसी प्रकार अपनी संतानों को अनुशासन में रखने के लिए समय-समय पर धमकाता, डराता और दंड देता रहता है। 'ईश' का अर्थ है—अनुशासन। इस सृष्टि के कण-कण में एक अनुशासन संव्याप्त है। मनुष्य अपने शरीर और मस्तिष्क को जितने अंश में अनुशासित रख सकता है, वह उतने अंश में अपने आप का ईश्वर है। इस संसार में अनुशासनहीन कुछ भी नहीं है। आकाशस्थ ग्रह-नक्षत्र एक अनुशासन में बँधे हैं। उत्पादन, अभिवर्द्धन और परिवर्तन की सुव्यवस्था देखी जा सकती है।

अनुशासन, परस्परावलंबन, सहकार पर ही सारी जगती का व्यवस्थाक्रम टिका हुआ है। मानवी अस्तित्व तक उसी आधार बिंदु का कारण है।

एक शरीर में विद्यमान भिन्न-भिन्न अंगों का महत्त्व और उपयोगिता उनके सामर्थ्यगत स्वरूप के कारण है। उँगुली, हथेली,

हाथ, पैर, पेट, छाती, गरदन, सिर आदि अंग अलग-अलग कट-पिटकर बेजान अंग ही रह जाएँगे उनसे न कोई काम किया जा सकता है और न उनकी कोई महत्ता सिद्ध होती है।

समुद्र की लहर अपना सरंजाम अलग खड़ा करे तो वे जल के रूप में बिखर जाएँगी और ज्वार-भाटे के समय जो उनका गौरव देखकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते थे उससे उन्हें वंचित ही रहना पड़ेगा। नौकाओं को पलट देने की शक्ति—गरजती हुई ध्वनि फिर उनमें कहाँ रहेगी? किसी गड्ढे में पड़ी सूख जाएँगी। अपने स्वरूप को भी स्थिर न रख सकेंगी। सूखने के बाद उनका अस्तित्व उनकी सरसता की चर्चा का अस्तित्व भी मिटा देगा। वहाँ सूखा नमक भर श्मशान की राख की तरह पड़ा होगा? लहरें समुद्र से पृथक अपने अस्तित्व का स्वतंत्र निर्माण करने की—एषणा महत्त्वाकांक्षा के आवेश में भटकने का ही उपक्रम करती हैं। लाभ के लोभ में घाटा ही वरण करती हैं।

अनुमान में कहाँ कितनी सत्यता है, कहा नहीं जा सकता, पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मानवीय विधान की अपेक्षा ईश्वरीय विधान अधिक शक्तिशाली है। वहाँ न मनुष्य की भौतिक सामग्री साथ देती है, न बुद्धि-कौशल, न तकनीक काम देती है और न साइंस। उसे जानने के लिए तो अपने जीवन के दृष्टिकोण को ही बदलना पड़ता है। अपनी तुच्छता स्वीकार करना पड़ती है और महाकाल की महाशक्तियों पर विश्वास करना पड़ता है। जब इस तरह की ज्ञानबुद्धि जाग्रत होती है तो मनुष्य के कल्याण का मार्ग भी निकलने लगता है।

□□

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।